वैदिक संध्या

(वैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक व्याख्या)

- आचार्य अग्निव्रत

❝ जो सृष्टि को बिना विचारे आस्था व विश्वास वा परम्परा के नाम पर ईश्वर की पूजा करते हैं, वे मानव जाति को अंधविश्वास के गहन अंधकार में धकेलते हैं और जो बिना विचारे अहंकारवश ईश्वर की सत्ता को नकारते हैं, वे मानव को स्वच्छन्द भोगवादी बनाकर पशु से भी अधम बनाते हैं

इधर हमारा वैदिक विज्ञान दोनों को ही सत्य मार्ग पर लाकर मानव को वास्तव में मानव बनाता है। वैदिक विज्ञान आधुनिक विज्ञान का विरोधी नहीं बल्कि आधुनिक विज्ञान की वास्तविक एवं अनसुलझी समस्याओं का समाधान करने में सहायक है।

—आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

ओ३म्

(वैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक व्याख्या)

लेखक
आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

सम्पादकद्वय
मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य
(उपाचार्या एवं उपाचार्य)
वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन
भीनमाल (राज.)

सम्पादकीय

परमपिता परमात्मा ने इस सृष्टि को रचा, वही इसे नियन्त्रित वा संचालित कर रहा है और एक समय बाद इसका प्रलय भी कर देगा। उसने सृष्टि की रचना जीवात्मा के लिये की है, इसमें ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। सम्पूर्ण प्राणिजगत् में हम मानवों को ही सबसे अधिक बुद्धि और जटिल शरीर प्रदान किया है। हम अपने शरीर पर दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि हमारा एक-एक अङ्ग कितना मूल्यवान् है। इतना सब कुछ मिलने के बाद भी क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं कि हम उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करें?

अपनी कृतज्ञता को व्यक्त करने के लिए संसार में विभिन्न सम्प्रदायों ने अपनी भिन्न-भिन्न पूजा-पद्धतियाँ बना ली हैं। क्या आपने कभी विचार किया है कि जब इनमें से कोई भी सम्प्रदाय इस धरती पर नहीं था, तब कौनसी पूजा पद्धति इस संसार में प्रचलित थी? आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करें, तो उन सबमें संध्या को ही ईश्वर की पूजा अर्थात् स्तुति, प्रार्थना और उपासना का मार्ग बताया है। जब से मानव जन्मा, तभी से वह इस पद्धति को अपनाये हुए था, महाभारत के पश्चात् यह परम्परा शनैः-2 समाप्त होने लगी। ऋषि दयानन्द ने पुनः हमें उस परम्परा से अवगत कराया और तब से आर्य (श्रेष्ठ) लोग संध्योपासना करने लगे।

संध्या क्या है?

संध्या शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न होने से इसका अर्थ है- सम्यक् रूप से चिन्तन, मनन, ध्यान, विचार करना आदि। संध्या को परिभाषित करते हुए ऋषि दयानन्द पञ्चमहायज्ञ-विधि में लिखते हैं-

'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'

अर्थात् जिसमें परब्रह्म परमात्मा का अच्छी प्रकार से ध्यान किया जाता है, उसे संध्या कहते हैं। इसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जाती है। उधर भगवान् मनु संध्योपासना के विषय में मनुस्मृति में लिखते हैं-

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ [मनु. 2.102]

अर्थात् दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प किया जाता है।

संध्या का फल

सत्य सनातन वैदिक धर्म में परमपिता परमात्मा की पूजा वा संध्या का अभिप्राय स्तुति, प्रार्थना और उपासना से ही है। ऋषि दयानन्द सरस्वती के अनुसार-

'स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।'

संध्या कैसे करें?

प्रातः व सायं काल सन्धिवेला में नित्यकर्मों से निवृत्त होकर पवित्र एवं एकान्त स्थान पर सिद्धासन, सुखासन वा पद्मासन लगाकर संध्या के लिए बैठ जायें। इसके पश्चात् सभी राग, द्वेष, चिन्ता, शोक आदि से मुक्त होकर शान्त व एकाग्रचित्त होकर परमात्मा के ध्यान में अपने मन और आत्मा को स्थिर करते हुए संध्योपासना करें।

पूज्य आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित वैदिक रश्मि सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल तारों तक) वेद मन्त्रों की

ऋचाओं से निर्मित है और यही मत हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों का रहा है। ये मन्त्र वाणी की पश्यन्ती अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वेदमन्त्र गुँजायमान हो रहे हैं और इस प्रकार संस्कृत ब्रह्माण्ड की भाषा है। जब हम वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, तो इनका प्रभाव सृष्टि पर पड़ता है, भले ही हम उसे अनुभव न कर सकें।

जो प्रतिदिन संध्या करते हैं, प्राय: उनको संध्या के मन्त्रों का सामान्य अर्थ भी ज्ञात नहीं होता, जिससे उनका मन संध्या में ठीक प्रकार से नहीं लग पाता। इसको ध्यान में रखते हुए और अनेक लोगों के आग्रह करने पर पूज्य आचार्य श्री ने संध्या के मन्त्रों का त्रिविध भाष्य (आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) करने का निश्चय किया। इस पुस्तक में संध्या के मन्त्रों का तीन प्रकार का भाष्य पाठकों को पढ़ने को मिलेगा। ऐसा कार्य संसार में पहली बार हुआ है। इसके लिए हम सदा आचार्य श्री के ऋणी रहेंगे। मेरी सहधर्मिणी श्रीमती मधुलिका आर्या ने इस पुस्तक का सम्पादन एवं ईक्ष्यवाचन कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया, इसके लिए उन्हें साधुवाद देना औपचारिकता मात्र ही कहा जा सकता है।

पाठकों को चाहिए कि वे-

1. संध्या के मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को अच्छी प्रकार आत्मसात् करें।
2. इन मन्त्रों की वैज्ञानिक व्याख्या से सृष्टि को और अधिक गहराई से समझने का प्रयास करें।
3. इनकी व्यावहारिक व्याख्या को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने का प्रयास करें।
4. इनकी आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार भावना बनाकर संध्या करें अथवा संध्या करते समय ऐसी भावना बनायें।

-विशाल आर्य

वैदिक संध्या करने की विधि एवं मन्त्रों के सही उच्चारण जानने हेतु इस बारकोड को स्कैन करे अथवा दिये हुए लिंक पर जायें।

https://bit.ly/3xgHZUP

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव॥ [मनु. 4.94]

अर्थात् मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों ने देर तक संध्योपासना करने के कारण दीर्घायु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है।

* * * * *

भूमिका

स्वभाव से ही मनुष्य विपत्ति में अपने से अधिक सामर्थ्यशाली का आश्रय चाहने वाला होता है। जैसे कोई भी भयभीत बच्चा किसी से भी भयभीत होने पर तुरन्त अपनी माँ की गोद में आकर बैठ जाता है और अपने को सर्वथा सुरक्षित अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार संसार में सभी ईश्वरवादी, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय से जुड़े हों, सुख में भले ही न सही, दुःख में तो अपने उपास्य की पूजा करने लग ही जाते हैं, कोई-कोई तो कब्रों से ही अपने दुःख दूर करने की याचना करने लग जाते हैं। जो अनीश्वरवादी हैं और ईश्वर जैसी किसी सत्ता के अस्तित्व पर सदैव अहंकारपूर्वक व्यंग्य करते रहते हैं, वे भी जब किसी विशेष आपत्ति में होते हैं, तब किसी अदृश्य शक्ति से अपने प्राणों की भीख माँगते हुए देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य स्वभाव से आस्तिक ही होता है, परन्तु वह अपने अहंकार वा घोर अज्ञानता के कारण नास्तिकता के दलदल में फँस जाता है और वह इसमें अपना बड़प्पन व प्रगतिशीलता भी समझता है।

अब यहाँ हम उनकी चर्चा करते हैं, जो स्वयं को ईश्वरवादी कहते हैं। संसार में इनकी ही संख्या अधिक है, भले ही वे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी क्यों न हों, सबकी पूजा-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। ईश्वर सम्बन्धी सबकी धारणाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं और इसी कारण उनकी पूजा-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा होने के कारण सभी ईश्वरवादी एक दूसरे के ऐसे शत्रु बने हुए हैं, जैसे कि अनीश्वरवादी भी एक दूसरे के शत्रु नहीं हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सम्पूर्ण संसार में धर्म और अध्यात्म के नाम पर जो हिंसा वा रक्तपात हुआ है, जो घृणा और द्वेष का वातावरण बनाया गया है, उतना अन्य किसी कारण से नहीं हुआ।

वस्तुतः वर्तमान में प्रचलित पूजा-पद्धतियाँ मनुष्य को ईश्वर के समक्ष केवल याचक ही तो बनाती हैं, परन्तु जिससे व्यक्ति याचना करता है, चाहे वह उसे ईश्वर, खुदा आदि कोई भी नाम क्यों न दे, कैसा है? उसका स्वरूप, उसके गुण-कर्म-स्वभाव कैसे हैं? इसकी चर्चा अधिकांश पूजा-पद्धतियों में है ही नहीं। इस कारण इन पूजा-पद्धतियों ने इस संसार को विभिन्न सम्प्रदायों में बाँट तो दिया, परन्तु इनमें से अधिकांश पूजा-पद्धतियाँ मनुष्य कहलाने वाले प्राणी को मनुष्य नहीं बना सकीं, समाज, राष्ट्र व विश्व में एकता, मैत्री और समरसता का भाव उत्पन्न नहीं कर सकीं। इसका मूल यह है कि ईश्वरवादी ईश्वर को केवल आस्थाओं और विश्वासों का विषय मानकर बैठ गये, फिर वह आस्था भले ही अपने किसी कल्पित ग्रन्थ पर हो, अपने किसी गुरु वा पीर-पैगम्बर पर हो। प्रायः इस विषय में अपनी वैज्ञानिक बुद्धि का उपयोग नहीं किया गया और वेदों तथा ऋषि-मुनियों के ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा की गयी, इसलिए जिसके मन ने जो चाहा अपना ईश्वर कल्पित करके अपनी-अपनी पूजा-पद्धतियों का प्रचलन कर दिया।

आज कोई भी ईश्वरवादी यह सोचने का प्रयास नहीं कर रहा कि जब सृष्टि सबके लिए एक है, उसका विज्ञान सबके लिए एक समान है, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, ग्रह, अणु व परमाणु आदि सबका विज्ञान सबके लिए समान है, जन्तु विज्ञान और वनस्पति विज्ञान भी सबके लिए समान है, तब इनको बनाने वाला सबके लिए भिन्न-भिन्न कैसे हो गया? वस्तुतः इनकी पूजा-पद्धति इस विषय में इन्हें कोई शिक्षा नहीं देती। उधर इन आडम्बरों से भरी पूजा-पद्धतियों को देखकर और अनेक चित्र-विचित्र स्वरूप वाले ईश्वर के बारे में सुनकर ही बुद्धि से कुछ सोचने वाले लोग नास्तिक बने और निरन्तर बनते जा रहे हैं। ऐसे लोग मनुष्य को स्वच्छन्द भोगवादी पशु बना रहे हैं और मात्र आस्था एवं विश्वासों पर टिके ईश्वरवादी मनुष्य को अन्धविश्वासों के गहरे कूप में धकेल रहे हैं।

इस कारण मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी-2 पूजा-पद्धतियों की गहराई से निष्पक्ष समीक्षा करे और यह जानने का प्रयास करे कि उनके द्वारा पूजित ईश्वर क्या वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है? अथवा वे भटके हुए हैं? यदि वे यह परीक्षा करते हैं, तो उन्हें निश्चित ही इसका समुचित उत्तर स्वयं मिल जाएगा।

वास्तव में ईश्वर की पूजा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिससे उन्हें ईश्वर के स्वरूप और गुण, कर्म व स्वभाव का विधिवत् ज्ञान हो सके। ऐसा होने से उन्हें सृष्टि का भी बोध होकर सृष्टि में रहने वाले अन्य प्राणियों के साथ अपना क्या सम्बन्ध है, यह भी बोध हो सकेगा और तदनुकूल ही उनका सबसे प्रीति और न्यायपूर्वक व्यवहार भी हो सकेगा। इस संसार में आदिकाल से ही वेदोक्त योग-साधना की पद्धति प्रचलित थी, जिसे महाभारत अथवा उसके कुछ पूर्व महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में सूत्रबद्ध किया। यह पद्धति मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाती है। यह न केवल मनुष्य जाति, अपितु प्राणिमात्र का कल्याण करते हुए मनुष्य को मोक्ष तक ले जाती है। अन्य जो भी वैदिक पद्धतियाँ जब कभी प्रचलित रहीं, उन सबका भी मूलतः यही स्वरूप और उद्देश्य रहा। कुछ काल पूर्व आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने जिस वैदिक संध्या पद्धति का प्रणयन किया, उसका उद्देश्य व स्वरूप भी वही है। दुर्भाग्य से इस पद्धति पर चलने वालों ने भी इस संध्या-पद्धति के रहस्य को नहीं समझा और तोते की भाँति मन्त्रपाठ करना ही अपना कर्त्तव्य समझ लिया। इस कारण इस पद्धति पर चलने वाले अहंकार, क्रोध, कर्कशता और ईर्ष्या- द्वेष जैसे अनेक दुर्गुणों से ग्रस्त देखे जा सकते हैं।

इसलिए हमने ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट वैदिक संध्या की व्याख्या करना आवश्यक समझा। इसको पढ़ने से साधकों को ईश्वर और उसके सृष्टि-क्रियाविज्ञान का सम्यक् बोध होकर ईश्वर पर श्रद्धा बढ़ेगी और समाज में उनका व्यवहार भी मृदु और सौम्य होने लगेगा। यह पुस्तक न केवल

आर्यसमाजियों, अपितु मानव मात्र को परस्पर जोड़ने में सहायक होगी। यह पुस्तक साधक के जीवन को पवित्र बनाकर योगमार्ग का सच्चा पथिक बनाने में सहायक होगी।

इस पुस्तक का सम्पादन मेरे मानस–पुत्र प्रिय विशाल आर्य और उनकी धर्मपत्नी मधुलिका आर्या दोनों ने कुशलतापूर्वक किया है। इन्होंने न केवल सम्पादन किया है, अपितु मनसा–परिक्रमा के अन्तिम दो मन्त्रों का तीनों प्रकार का भाष्य तथा नमस्कार मन्त्र का आधिभौतिक और आध्यात्मिक भाष्य भी किया है। यह मेरे लिये अति प्रसन्नता का विषय है। ये दोनों ही इस संस्था के भविष्य हैं, इस कारण इनकी इस क्षेत्र में प्रगति देखकर मुझे अत्यन्त सन्तोष है। ईश्वर इन दोनों को स्वस्थ, सुखी और अपने उद्देश्यों में सफल करे।

यूँ तो संध्या की व्याख्या में अनेक उत्तम कोटि की पुस्तकें पहले से ही विद्यमान हैं, फिर भी इस पुस्तक में पाठकों को एक नयी दृष्टि मिलेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। पुस्तक की उपयोगिता एवं विशेषता को तो अध्यात्म पिपासु और सुधी पाठक स्वयं ही अनुभव कर पायेंगे, किमधिकम्।

–आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

* * * * *

वैदिक-संध्या

गायत्री-मन्त्रः

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [यजु.36.3]

आचमन-मन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ [यजु.36.12]

अंगस्पर्श-मन्त्राः

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुश्चक्षुः।
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे।

मार्जन-मन्त्राः

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः।
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

प्राणायाम-मन्त्राः

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः।
ओं सत्यम्॥

अघमर्षण-मन्त्राः

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ [ऋग्वेद 10.190.1]

ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ [ऋग्वेद 10.190.2]

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ [ऋग्वेद 10.190.3]

आचमन-मन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ [यजु.36.12]

मनसा-परिक्रमा-मन्त्राः

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.1]

ओं दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.2]

ओं प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.3]

ओम् उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.4]

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.5]

ओम् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.6]

उपस्थान-मन्त्राः

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽ उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ [यजुर्वेद 35.14]

ओम् उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम्॥ [यजु.33.31]

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी ऽ अन्तरिक्षꣳ सूर्य्य ऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ [यजुर्वेद 7.42]

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ [यजुर्वेद 36.24]

गायत्री-मन्त्रः

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [यजु.36.3]

समर्पणम्

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा
धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

नमस्कार-मन्त्रः

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ [यजुर्वेद 16.41]

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

* * * * *

ओ३म्

वैदिक संध्या (ब्रह्मयज्ञ)

(आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक भाष्य)

साधक सदैव संध्या वा साधना के लिए उपयुक्त, शान्त व सात्त्विक स्थान का चयन करे। स्थानाभाव में अपने गृह के किसी एक कोने को ही साधना के लिए चुन ले। संध्या प्रारम्भ करने से पूर्व ही साधक यह भावना करे कि वह अपने प्यारे प्रभु, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकमात्र स्वामी है, से मिलने के लिए बैठा है। भक्तिपूर्ण भजन आदि गाकर मन को भक्तिमय बनाने का प्रयास करे। तदुपरान्त साधक व्याहृतिपूर्वक गायत्री मन्त्र पर विचार करे। गायत्री मन्त्र की महिमा के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥ [मनु.11.225]

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ [मनु.2.53]

इन दोनों ही श्लोकों से गायत्री मन्त्र नाम से प्रसिद्ध सावित्री मन्त्र की महिमा का बोध होता है। यह मन्त्र इस प्रकार है—

गायत्री-मन्त्रः

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [यजु.36.3]

यह मन्त्र (व्याहृति रहित रूप में) यजुर्वेद 3.35; 22.9; 30.2; ऋग्वेद 3.62.10; सामवेद 14.62 में भी विद्यमान है। यह ऐतरेय ब्राह्मण में भी अनेकत्र आया है। इनमें से यजुर्वेद 30.2 में इस मन्त्र का ऋषि नारायण तथा अन्यत्र विश्वामित्र है। देवता सविता, छन्द निचृद् बृहती एवं स्वर षड्ज है। व्याहृतियों का छन्द दैवी बृहती तथा स्वर व्याहृतियों सहित सम्पूर्ण मन्त्र का स्वर मध्यम षड्ज है। महर्षि दयानन्द ने सर्वत्र ही इसका भाष्य आध्यात्मिक किया है। केवल यजुर्वेद 30.2 के भावार्थ में आधिभौतिक का स्वल्प संकेत भी है, शेष भाष्य आध्यात्मिक ही है। एक विद्वान् ने कभी हमें कहा था कि गायत्री मन्त्र जैसे कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भाष्य हो ही नहीं सकता। हम संसार के सभी वेदज्ञों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि वेद का प्रत्येक मन्त्र इस सम्पूर्ण सृष्टि में अनेकत्र कम्पनों के रूप में विद्यमान है। इन मन्त्रों की इस रूप में उत्पत्ति पृथिव्यादि लोकों की उत्पत्ति से भी पूर्व में हो गयी थी। इस कारण प्रत्येक मन्त्र का आधिदैविक भाष्य अनिवार्यतः होता है। त्रिविध अर्थ प्रक्रिया में सर्वाधिक व सर्वप्रथम सम्भावना इसी प्रकार के अर्थ की होती है। इस कारण इस मन्त्र का आधिदैविक अर्थ नहीं हो सकता, ऐसा विचार करना वेद के यथार्थ स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञता का परिचायक है।

इस ऋचा का देवता सविता है। सविता के विषय में ऋषियों का कथन है-

[**सविता** = सविता सर्वस्य प्रसविता (नि.10.31), सविता वै देवानां प्रसविता (श.1.1.2.17), सविता वै प्रसवानामीशे (ऐ.1.30), प्रजापतिर्वै सविता (तां.16.5.17), मनो वै सविता (श.6.3.1.13), विद्युदेव सविता (गो.पू.1.33), पशवो वै सविता (श.3.2.3.11), प्राणो वै सविता (ऐ.1.19), वेदा एव सविता (गो.पू.1.33), सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः (तै.ब्रा.2.5.7.4)]

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- सविता नामक पदार्थ सबकी उत्पत्ति व प्रेरणा का स्रोत वा साधन है।
- यह सभी प्रकाशित व कामना अर्थात् आकर्षणादि बलों से युक्त कणों का उत्पादक व प्रेरक है।
- यह सभी उत्पन्न पदार्थों का नियन्त्रक है।
- 'ओम्' रश्मि रूप छन्द रश्मि एवं मनस्तत्त्व ही सविता है।
- विद्युत् को भी 'सविता' कहते हैं।
- विभिन्न मरुद् रश्मियाँ एवं दृश्य कण 'सविता' कहलाते हैं।
- विभिन्न प्राण रश्मियाँ 'सविता' कहलाती हैं।
- सभी छन्द रश्मियाँ भी 'सविता' हैं।
- तारों के केन्द्रीय भाग रूप राष्ट्र को प्रकाशित व उनका पालन करने वाला सम्पूर्ण तारा भी 'सविता' कहाता है।

यह हम पूर्व में लिख चुके हैं कि देवता किसी भी मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होता है। इस कारण इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य 'ओम्' छन्द रश्मि, मनस्तत्त्व, प्राण तत्त्व एवं सभी छन्द रश्मियाँ हैं। इस ऋचा की उत्पत्ति विश्वामित्र ऋषि [वाग् वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.10.5), विश्वामित्रः सर्वमित्रः (नि.2.24)] अर्थात् सबको आकृष्ट करने में समर्थ 'ओम्' छन्द रश्मियों से होती है।

आधिदैविक भाष्य

(**भूः**) 'भूः' नामक छन्द रश्मि किंवा अप्रकाशित कण वा लोक, (**भुवः**) 'भुवः' नामक रश्मि किंवा आकाश तत्त्व, (**स्वः**) 'सुवः' नामक रश्मि किंवा प्रकाशित कण, फोटोन वा सूर्यादि तारे आदि में व्याप्त, (**तत्, सवितुः**) उस अगोचर वा दूरस्थ सविता अर्थात् मन, 'ओम्' रश्मि, सभी छन्द

रश्मियाँ, विद्युत् सूर्यादि आदि पदार्थों को (**वरेण्यम्, भर्गः, देवस्य**) सर्वतः आच्छादित करने वाला व्यापक [**भर्गः** = अग्निर्वै भर्गः (श.12.3.4.8), आदित्यो वै भर्गः (जै.उ.4.12.2.2), वीर्यं वै भर्गऽएष विष्णुर्यज्ञः (श.5.4.5.1), अयं वै (पृथिवी) लोको भर्गः (श.12.3.4.7)] आग्नेय तेज, जो सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करके अनेक संयोजक व सम्पीडक बलों से युक्त हुआ प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों के निर्माण हेतु प्रेरित करने में समर्थ होता है, (**धीमहि**) प्राप्त होता है अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थ उस आग्नेय तेज, बल आदि को व्यापक रूप से धारण करता है। (**धियः, यः, नः, प्रचोदयात्**) जब वह उपर्युक्त आग्नेय तेज उस पदार्थ को व्याप्त कर लेता है, तब विश्वामित्र ऋषि संज्ञक मन व 'ओम्' रश्मि रूप पदार्थ [**धीः** = कर्मनाम (निघं.2.1), प्रज्ञानाम (निघं.3.9), वाग् वै धीः (ऐ.आ.1.1.4)] नाना प्रकार की वाग् रश्मियों को विविध दीप्तियों व क्रियाओं से युक्त करता हुआ अच्छी प्रकार प्रेरित व नियन्त्रित करने लगता है।

भावार्थ—

मन एवं 'ओम्' रश्मियाँ व्याहृति रश्मियों से युक्त होकर क्रमशः सभी मरुद्, छन्द आदि रश्मियों को अनुकूलता से सक्रिय करते हुए सभी कण, क्वाण्टा एवं आकाश तत्त्व को उचित बल व नियन्त्रण से युक्त करती हैं। इससे सभी लोकों तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थ नियन्त्रित ऊर्जा से युक्त होकर अपनी-2 क्रियाएँ समुचितरूपेण सम्पादित करने में समर्थ होते हैं। इससे विद्युत् बल भी सम्यक् नियन्त्रित रहते हैं।

सृष्टि में इस ऋचा का प्रभाव—

इस ऋचा की उत्पत्ति के पूर्व विश्वामित्र ऋषि अर्थात् 'ओम्' छन्द रश्मियाँ विशेष सक्रिय होती हैं। इसका छन्द दैवी बृहती+निचृद् गायत्री होने से इसके छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित कण वा रश्मि आदि पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल प्राप्त करके सम्पीडित होने लगते हैं। इसके दैवत प्रभाव से मनस्तत्त्व

एवं 'ओम्' छन्द रश्मि रूप सूक्ष्मतम पदार्थों से लेकर विभिन्न प्राण, मरुत्, छन्द रश्मियाँ, विद्युत् के साथ-2 सभी दृश्य कण वा क्वाण्टा प्रभावित अर्थात् सक्रिय होते हैं। इस प्रक्रिया में 'भूः', 'भुवः' एवं 'सुवः' नामक सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ 'ओम्' छन्द रश्मि के द्वारा विशेष संगत व प्रेरित होती हुई कण, क्वाण्टा, आकाश तत्त्व तक को प्रभावित करती हैं। इससे इन सभी में बल एवं ऊर्जा की वृद्धि होकर सभी पदार्थ विशेष सक्रियता को प्राप्त होते हैं। इस समय होने वाली सभी क्रियाओं में जो-2 छन्द रश्मियाँ अपनी भूमिका निभाती हैं, वे सभी विशेष उत्तेजित होकर नाना कर्मों को समृद्ध करती हैं। विभिन्न लोक चाहे, वे तारे आदि प्रकाशित लोक हों अथवा पृथिव्यादि ग्रह वा उपग्रहादि अप्रकाशित लोक हों, सभी की रचना के समय यह छन्द रश्मि अपनी भूमिका निभाती है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण पदार्थ में विद्युत् एवं ऊष्मा की वृद्धि होती है, परन्तु इस स्थिति में भी यह छन्द रश्मि विभिन्न कणों वा क्वाण्टा को सक्रियता प्रदान करते हुए भी अनुकूलता से नियन्त्रित रखने में सहायक होती है। हाँ, वहाँ व्याहृतियों की अविद्यमानता अवश्य है। इसके षड्ज स्वर के प्रभाव से ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को आश्रय देने, नियन्त्रित करने, दबाने एवं वहन करने में सहायक होती है। व्याहृतियों का मध्यम स्वर इन्हें विभिन्न पदार्थों के मध्य प्रविष्ट होकर अपनी भूमिका निभाने का संकेत देता है। छन्द व स्वर के प्रभाव हेतु पूर्वोक्त छन्द प्रकरण को पढ़ना अनिवार्य है।

आध्यात्मिक भाष्य

(**भूः**) प्राणों से भी प्रिय और सबके प्राणों का आधार, भूलोक अर्थात् सभी अप्रकाशित लोकों के स्वामी एवं सत् स्वरूप परमात्मन्! (**भुवः**) अपानस्वरूप अर्थात् सब दुर्गुण और दुःखों को दूर करने वाले चेतनस्वरूप परमेश्वर! (**स्वः**) व्यानस्वरूप अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को विविध प्रकार से चेष्टा कराने वाले सभी प्रकाशित लोकों के स्वामी, आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर! (**सवितुः**) सकल जगत् को उत्पन्न करने

वाले, सबको शुभ कर्मों की प्रेरणा देने वाले, सब लोकों के धाता परमात्मा के (**देवस्य**) सभी दिव्य गुणों से युक्त, सभी प्रकाशित लोकों को भी प्रकाशित करने वाले, सभी मनुष्यों को वेद ज्ञान प्रदान करने वाले, सकल सृष्टि के नियन्ता, सबके कामना करने योग्य, प्रलयकाल में सबको सुलाने वाले देवस्वरूप परमात्मा के (**तत्, वरेण्यम्**) उस वरण करने योग्य सर्वश्रेष्ठ (**भर्गः**) पापनाशक तेज को (**धीमहि**) हम अपने अन्तःकरण वा आत्मा में धारण करें। (**यः, नः, धियः**) जो अर्थात् वह तेज [**धीः** = प्रज्ञानाम (निघं.3.9), कर्मनाम (निघं.2.1।)] हमारी बुद्धि एवं कर्मों को (**प्रचोदयात्**) अच्छी प्रकार से प्रेरित करे अर्थात् वह ईश्वर हमें सन्मार्ग में चलने के लिए प्रेरित करे और हम उस प्रेरणा का अनुसरण करते हुए सन्मार्ग पर चलने का सामर्थ्य भी प्राप्त करें और उस मार्ग पर सदैव चलते भी रहें।

इस मन्त्र को उपासना के लिए सबसे अधिक महत्त्व इस कारण दिया गया है, क्योंकि इसमें परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तीनों का ही समावेश है। 'भूः, भुवः, स्वः, सवितुः, देवस्य, वरेण्यम्, भर्गः' पद परमेश्वर के गुणों का प्रतिपादन करते हैं, इस कारण ये पद स्तुति परक हैं। इन गुणों के कीर्तन से साधक में ईश्वर के प्रति विशेष श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। सभी व्याहृतियों के चिन्तन से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का ही अनुभव करने लगता है। वह उसे दुःखविनाशक और सुख प्रदाता मानकर सांसारिक दुःखों को भूलकर आनन्द की अनुभूति करने लगता है। वह ईश्वर को सकल सृष्टि का उत्पादक व नियन्त्रक मानकर स्वत्व के अहंकार से मुक्त होने लगता है। वह उस ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसी के साक्षात्कार की कामना करने लगता है। उसके पापनाशक स्वरूप को स्मरण करके अपने अन्तःकरण की मलिनता को दूर होता हुआ अनुभव करता है। यहाँ 'धीमहि' पद उसकी उपासना की ओर संकेत करता है। इस पद पर विचार करते समय वह साधक ऐसे परमात्मा के तेज को अपने हृदय में अनुभव करते हुए 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस प्रार्थनापरक पाद के जप से वह साधक पवित्र बुद्धि प्रदान

करने और तदनुकूल कर्म करने का सामर्थ्य प्राप्त करने की याचना करता और इस याचना से वह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होकर सर्वथा अहंकारशून्य होने का प्रयत्न करने लगता है॥

आधिदैविक भाष्य व वैज्ञानिक प्रभाव को दर्शाने के पश्चात् हम इस मन्त्र के आधिभौतिक अर्थ पर विचार करते हैं-

आधिभौतिक भाष्य

[**भूः** = कर्मविद्याम्, **भुवः** = उपासनाविद्याम्, **स्वः** = ज्ञानविद्याम् (म.द.य.भा.36.3)। **सविता** = योगपदार्थज्ञानस्य प्रसविता (म.द.य.भा. 11.3), सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः (तै.ब्रा.2.5.7.4)] कर्मविद्या, उपासनाविद्या एवं ज्ञानविद्या इन तीनों विद्याओं से सम्पन्न (**सवितुः**) (**देवस्य**) दिव्य गुणों से युक्त राजा, माता-पिता किंवा उपदेशक, आचार्य अथवा योगी पुरुष के (**वरेण्यम्**) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, (**भर्गः**) पापादि दोषों को नष्ट करने वाले, समाज, राष्ट्र व विश्व में यज्ञ अर्थात् संगठन, त्याग, बलिदान के भावों को समृद्ध करने वाले उपदेश वा विधान को (**धीमहि**) हम सब मनुष्य धारण करें। (**यः**) ऐसे जो राजा, योगी, आचार्य वा माता-पिता और उनके विधान वा उपदेश (**नः**) हमारे (**धियः**) कर्म एवं बुद्धियों को (**प्रचोदयात्**) व्यक्तिगत, आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय वा वैश्विक उन्नति के पथ पर अच्छी प्रकार प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—

उत्तम योगी व विज्ञानी माता-पिता, आचार्य एवं राजा अपनी सन्तान, शिष्य वा प्रजा को अपने श्रेष्ठ उपदेश एवं सर्वहितकारी विधान के द्वारा सभी प्रकार के दुःखों, पापों से मुक्त करके उत्तम मार्ग पर चलाते हैं। ऐसे माता-पिता, आचार्य एवं राजा के प्रति सन्तान, शिष्य व प्रजा अति श्रद्धाभाव रखे,

जिससे सम्पूर्ण परिवार, राष्ट्र वा विश्व सर्वविध सुखी रह सके।

गायत्री मन्त्र की साधना करने व संध्या करने वाले साधक को योग्य है कि वह स्वयं अपनी बुद्धि व कर्मों को पवित्र करने के पुरुषार्थ के साथ-साथ परिवार, समाज व राष्ट्र से तमोगुणी प्रवृत्तियों को दूर करने का निरन्तर प्रयास करता रहे। एतदर्थ सदैव बुद्धिवर्धक सात्त्विक भोजन ही करे।

आचमन-मन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्त्रवन्तु नः ॥ [यजु.36.12]

इस मन्त्र का ऋषि दध्यङ् है, जो अथर्वा से उत्पन्न होता है। इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है- 'वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः'। (श.6.4.2.3) 'वाग्वा अनुष्टुप्' (ऐ.1.28)। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कुछ विशेष प्रकार की अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता 'आपः' है।

[**आपः** = मेध्या वा आपः (श.1.1.1.1), अन्नं वाऽआपः (श.2.1.1.3), वज्रो वा ऽआपः (श.1.1.1.17), आपो हि यज्ञः (श.3.1.4.15), पशवो वा एते यदापः (ऐ.1.8), **देवीः** = प्राणो वा अपानोव्यानस्तिस्त्रो देव्यः (ऐ.2.4)]

इसका छन्द गायत्री है, इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से आकाश में विद्यमान विभिन्न संयोज्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ एवं वज्र रश्मि आदि पदार्थ, जो देवीसंज्ञक प्राण, अपान और व्यान से संयुक्त होते हैं, श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं तथा विद्युत् बलों की वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य

(**शम्, नः, देवीः, अभिष्टये, आपः, भवन्तु, पीतये**) प्राण, अपान और व्यान में विद्यमान विभिन्न कण वा रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की ऋषि रश्मियों के साथ सब ओर से संगत होकर परस्पर अवशोषित करने के लिए सन्तुलित ऊर्जा से युक्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे कण वा रश्मियाँ न तो अधिक विक्षुब्ध होते हैं और न शिथिल ही होते हैं, बल्कि वे सन्तुलित ऊर्जा से युक्त होते हैं। इसके कारण उन कणों वा रश्मियों की संयोग-प्रकिया समृद्ध होने लगती है। ये सभी संयोज्य कण परस्पर क्रीडा करते हुए, चमकते हुए, एक दूसरे के प्रति अन्योन्य क्रियाएँ करते हुए आकर्षणादि बलों से युक्त होते हैं। जब ये सभी गुण सन्तुलित अवस्था को प्राप्त होते हैं, तभी वे यजन कर्म में समर्थ होते हैं। यहाँ 'आपः' पद का विशेषण 'देवीः' यही भाव दर्शा रहा है।

यहाँ 'अभिष्टये' पद में 'ईकार' को 'इकार' छान्दस प्रयोग है। यह पद यह दर्शाता है कि कणों के संयोग की प्रक्रिया सदैव सम्मुख उपस्थित अथवा सम्मुख गति करते हुए कणों के मध्य ही होती है। इसके साथ ही 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग 'सब ओर' अर्थ में भी होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यजन की यह प्रक्रिया सर्वत्र ही होती है। यहाँ 'पीतये' पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि इन सभी संयोग प्रक्रियाओं को संरक्षित करने के लिए भी ऊर्जा का सन्तुलित होना अनिवार्य है, अन्यथा संयुक्त कण उत्पन्न होते ही विखण्डित भी हो सकते हैं।

(**शंयोः, अभि, स्रवन्तु, नः**) [**शंयोः** = शंयुः सुखयुः। (नि.4.21), अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते। (नि.4.21), **बृहस्पतिः** = एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः। (श.14.4.1.22), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत्। (जै.उ.2.2.5), बृहतां पालकः सूत्रात्मा। (म.द.य.भा. 39.6)]

इन ऋषि रश्मियों में स्थित या विद्यमान विभिन्न कणों के ऊपर प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु इन तीनों रश्मियों के मिश्रित रूप से उत्पन्न विशेष प्रकार की रश्मियों की सब ओर से वृष्टि होने लगती है। इसके कारण वे संयोज्य कण पारस्परिक संयोग हेतु सुखद स्थिति को प्राप्त करते हैं। [**सुखम्** = सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः। (नि.3.13)] यहाँ सुखद स्थिति का तात्पर्य यह है कि वे संयोज्य कण एक-दूसरे के परिधिरूप में विद्यमान आकाश तत्त्व को उचित रीति से धारण करने में समर्थ होते हैं या होने लगते हैं। इससे सृष्टि में नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ समृद्ध होने लगती हैं।

भावार्थ—

इस गायत्री छन्द रश्मि के कारण कोई भी संयोज्य कण, छन्द, मरुद् एवं वज्र रश्मियाँ संयोग से पहले सन्तुलित ऊर्जा से युक्त होती हैं अर्थात् न तो विक्षुब्ध होती हैं और न ही शिथिल। इसके साथ ही यह रश्मि संयोग की प्रक्रिया को सुरक्षित भी रखती है। सृष्टि में जहाँ कहीं भी संयोग होता है, वहाँ सन्तुलन की यह प्रक्रिया अनिवार्य रूप से होती है।

विभिन्न संयोज्य कणों के ऊपर प्राण, अपान व सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक विशेष रश्मि की सब ओर से वृष्टि होने के कारण वे अपने चारों ओर विद्यमान आकाश तत्त्व को धारण करने में समर्थ होते हैं, जिससे यजन प्रक्रिया समृद्ध होती है।

(**देवीः, आपः**) हे सभी दिव्य गुणों से युक्त और सबको दिव्य गुण प्रदान करने हारे, सुखस्वरूप और सुख प्रदान करने हारे, सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माता और नियन्त्रक, सब मनुष्यों को जगत् के नाना व्यवहारों की वेद द्वारा शिक्षा देने वाले सर्वव्यापक परमेश्वर! (**नः, अभिष्टये, पीतये**) हमारे

अभीष्टरूप मोक्ष की सिद्धि के लिए एवं सभी दुर्गुणों और दुःख आदि से हमारी रक्षा के लिए, परमानन्द का पान कराने के लिए (**शम्, भवन्तु**) आप कल्याणकारी होवें। (**नः, शंयोः, अभि, स्त्रवन्तु**) हे परमेश्वर! आप हम योगसाधकों पर निरन्तर सब ओर से परम सुख की वृष्टि करते रहें। यहाँ सुख का तात्पर्य है- 'सुहितं खेभ्यः' (नि.3.13) अर्थात् हमारा आत्मा मन एवं इन्द्रियों को अच्छी प्रकार धारण करके अर्थात् उन्हें एकाग्र करके समाधि को प्राप्त करने वाला होवे।

भावार्थ—

हे दिव्य गुणों से युक्त सर्वव्यापक परमेश्वर! दुर्गुणों व दुःख आदि से हमारी रक्षा करके मोक्ष की सिद्धि के लिए कल्याणकारी होवें और हम पर परम सुख की वृष्टि करते रहें, जिससे हमारा आत्मा समाधि को प्राप्त करने में समर्थ होवे।

आधिभौतिक भाष्य

(**देवीः, आपः**) दिव्यगुणों में व्याप्त अर्थात् सभी दिव्यगुणों से सम्पन्न राजा, आचार्य अथवा पितर जन (**नः**) हमारे (**अभिष्टये**) [यह पद अभि पूर्वक 'यज देवपूजा संगतिकरणदानेषु' धातु से सिद्ध हुआ है।] हमें अर्थात् प्रजाजन, शिष्यगण अथवा सन्तान को देवत्व प्रदान करके उन्हें कर्तव्यबोध कराने के लिए, उनको परस्पर एक लक्ष्य बनाकर संगठित करने के लिए एवं इन सबमें त्याग की भावना उत्पन्न करने के लिए (**पीतये**) इन सबकी दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुःख आदि से रक्षा करने के लिए (**शम्, भवन्तु**) [शम्=शं सुखनाम। (निघं.3.6)] सुखकारी होवें, जिससे हम प्रजाजन आदि परस्पर एक-दूसरे का धारण और पोषण निरन्तर करते रहें। (**नः**) हम प्रजाजन आदि के ऊपर राजा, आचार्य आदि (**शंयोः**) शान्ति और सुख की (**अभि, स्त्रवन्तु**) चारों ओर से वृष्टि करते रहें, जिससे किसी भी राष्ट्र, समाज वा परिवार सबमें

सुख और शान्ति का साम्राज्य बना रहे।

यहाँ देवी पद 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न कान्तिगतिषु' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। महर्षि यास्क ने 'देवः' पद का निर्वचन इस प्रकार किया है— 'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा' (नि.7.15)। इन सबका तात्पर्य है कि शान्ति और सुख प्रदान करने वाले राजा, आचार्य वा पितर जन वे ही हो सकते हैं, जो स्वयं त्यागी-तपस्वी, अपने ज्ञान और सद्‌गुणों से प्रकाशित और प्रजाजन आदि को भी इनसे प्रकाशित करने वाले, जितेन्द्रिय, सबके लिए कमनीय व्यवहार करने वाले और सदैव गतिशील अर्थात् पुरुषार्थी होवें।

भावार्थ—

1. शान्ति और सुख प्रदान करने वाला, त्यागी, ज्ञान आदि सद्‌गुणों से प्रजाजन आदि को प्रकाशित करने वाला व सबके लिए कमनीय राजा प्रजाजन को संगठित करने और उनकी रक्षा करने वाला होवे, जिससे प्रजा पर सुख व शान्ति की सब ओर से वृष्टि होती रहे।

2. शिष्यगणों को कर्त्तव्यबोध कराने वाला तथा अपने ज्ञान और सद्‌गुणों से उन्हें प्रकाशित करने वाला आचार्य अपने शिष्यों में त्याग की भावना उत्पन्न करने तथा उनकी दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि से रक्षा करने वाला होवे, जिससे समाज में सब ओर सुख शान्ति रहे।

3. जितेन्द्रिय और पुरुषार्थी पितरजन अपनी सन्तानों को देवत्व प्रदान करके, उन्हें तपस्वी बनाकर उनकी हर प्रकार के दुःखों से रक्षा करने वाले होवे, जिससे परिवार पर सुख और शान्ति की सब ओर से वृष्टि होती रहे।

इस मन्त्र से साधक को यह शिक्षा मिलती है कि वह सदैव अपने ऊपर परमात्मा की कृपादृष्टि का अनुभव करता हुआ शान्त व प्रसन्नचित्त रहने

का प्रयास करे। इसके साथ ही अपने सम्पर्क में आने वालों के साथ शान्त व सौम्य व्यवहार ही करे तथा क्रोध आदि को सर्वथा त्याग दे।

वक्तव्य—

इस मन्त्र के बाद तीन बार जल से आचमन किया जाता है। जल शुद्धता, शान्ति और शीतलता का प्रतीक है। इस प्रकार जल से आचमन का अर्थ यह है कि हम शान्तमना एवं पवित्र भावों से परमेश्वर की उपासना के लिए प्रवृत्त हो रहे हैं। ऋषि दयानन्द ने आचमन के लिए इतना जल प्रयोग करने के लिए कहा है कि वह हृदय क्षेत्र तक पहुँचे। इसका अर्थ यह है कि वह पवित्रता व शान्ति का भाव न केवल वाणी से, अपितु हृदय से होवे। तीन बार आचमन का अर्थ यह है कि हम इस आचमन के द्वारा आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक दुःखों से निवृत्ति एवं इन तीनों ही प्रकार के सुखों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। इसके पूर्व गायत्री मन्त्र के उच्चारण का तात्पर्य यह है कि इस सबके लिए हम सर्वप्रथम परमेश्वर से उत्तम बुद्धि की प्रार्थना करें, क्योंकि प्रार्थना बुद्धिपूर्वक ही करनी चाहिए।

अंगस्पर्श-मन्त्राः

ओं वाक् वाक्।
ओं प्राणः प्राणः।
ओं चक्षुश्चक्षुः।
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्।
ओं नाभिः।
ओं हृदयम्।

ओं कण्ठः।

ओं शिरः।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम्।

ओं करतलकरपृष्ठे।

जब साधक उपासना में प्रवृत्त होता है, तब वह पूर्व मन्त्र द्वारा सब ओर से आत्मिक सुख और पवित्रता की वृष्टि का अनुभव करते हुए अपने शरीर के अंगों पर क्रमशः विचार करता है। इनमें सबसे प्रथम वाक् इन्द्रिय पर विचार किया गया है।

ओं वाक् वाक्।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वाक् इन्द्रिय का ग्रहण ही सर्वप्रथम क्यों किया गया है? हमारी दृष्टि में इसका कारण यह है कि सामाजिक प्राणी मनुष्य सबसे अधिक व्यवहार वाक् इन्द्रिय से ही करता है। वागिन्द्रिय वह इन्द्रिय है, जो केवल देने का व्यवहार करती है, लेने का कभी नहीं। इसलिए परोपकार कर्म करने वाली विभिन्न इन्द्रियों में अथवा शरीरांगों में यही सबसे प्रधान होती है। सभी प्रकार के परोपकार कर्मों में वेदविद्या का दान सबसे बड़ा दान माना गया है, इसी कारण भगवान् मनु ने कहा है— 'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'। यह सर्वोच्च दान भी वाक् इन्द्रिय के द्वारा ही दिया जा सकता है, इसी कारण किसी भी मनुष्य के लिए वाक् इन्द्रिय सबसे महत्त्वपूर्ण है। यहाँ 'वाक्' को दो बार प्रयुक्त किया गया है, इससे परमात्मा से प्रार्थना की है कि मेरी वाक् इन्द्रिय में लौकिक एवं वैदिक दोनों ही प्रकार की वाणी बोलने की शक्ति बनी रहे अर्थात् हम लोक और वेद दोनों को समझने वाले बनें अथवा इसका तात्पर्य यह भी है कि मेरी वाक् इन्द्रिय में बोलने का सामर्थ्य बना रहे।

ओं प्राणः प्राणः।

वाक् के पश्चात् नासिका के स्पर्श का विधान किया गया है। सृष्टि में भी वाक् तत्त्व का प्राणतत्त्व के साथ सबसे निकट सम्बन्ध है। बोलने की शक्ति का निकट सम्बन्ध प्राणवायु से ही होता है। वायु नाभि और हृदय से ऊपर उठता हुआ कण्ठ तक पहुँचकर ध्वनि को उत्पन्न करता है और फिर वही वायु जिह्वा, तालु आदि स्थानों के प्रयत्न से शब्दों को प्रकट करता है। इस कारण यहाँ नासिका के दोनों ओर स्पर्श करते हुए साधक प्रार्थना करता है कि मेरी नासिका में प्राण और अपान दोनों ही प्रकार का वायु सम्यक् रूप से प्रवाहित होता रहे, जिससे शरीर में प्राणतत्त्व सदैव ही सामर्थ्यवान् बना रहे और सभी इन्द्रियों को भी सामर्थ्यवान् बनाए रखे। ध्यातव्य है कि शरीर में एवं ब्रह्माण्ड में जो भी बल विद्यमान है, वह सब प्राणों का ही बल है और इन सब बलों का मूल परमात्मा होने से उसे भी 'प्राणों का प्राण' कहा जाता है। इस कारण यहाँ उस प्राणस्वरूप परमेश्वर से ही प्राणशक्ति की याचना की गई है।

ओं चक्षुश्चक्षुः।

प्राणों के बल की कामना के पश्चात् नेत्रों में देखने की शक्ति बनी रहने की प्रार्थना है। इस सृष्टि का अधिकतम ज्ञान हमें चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। पढ़ना, देखना आदि कर्म नेत्रों से ही होते हैं, इसलिए इस इन्द्रिय का स्वस्थ रहना बहुत आवश्यक है। कोई व्यक्ति कितना ही बलवान् और विद्वान् क्यों न हो, वह नेत्रहीन होने पर वह नहीं कर सकता, जो करना चाहता है। इस कारण वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मेरे नेत्रों में देखने की शक्ति सदा बनी रहे। नेत्रों के द्वारा ही परमात्मा की सृष्टि का अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा सबसे अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि उसे ईश्वर की रचना का जितना बोध आँखों से हो सकता है, उतना अन्य किसी इन्द्रिय से नहीं। यह भी ध्यातव्य है कि मनुष्य के लिए ज्ञान से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु नहीं है, जैसा कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा है— 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' और ज्ञान प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन यह चक्षु इन्द्रिय ही है।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्।

ज्ञानप्राप्ति का दूसरा सबसे बड़ा साधन श्रोत्र है। हम पढ़कर अथवा सुनकर ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, इस कारण चक्षु इन्द्रिय के पश्चात् श्रोत्र इन्द्रिय में श्रवण शक्ति बने रहने की प्रार्थना की गई है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसमें स्वाभाविक ज्ञान सबसे कम होता है। उसके लिए नैमित्तिक ज्ञान की अनिवार्यता होती है और यह नैमित्तिक ज्ञान दो प्रकार से ही प्राप्त हो सकता है- किसी से पढ़कर अथवा स्वयं पढ़कर। स्वयं पढ़कर विद्वान् होना अति कठिन कार्य है, इस कारण उसे किसी अन्य योग्य गुरु (माता-पिता, आचार्य आदि) से ज्ञान प्राप्त करना ही होता है और यह ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही वह कर पाता है। जो व्यक्ति स्वयं पढ़ता है, वह केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पढ़ सकता है, लेकिन जो दूसरे से पढ़ता है, उसे श्रोत्र इन्द्रिय की ही अनिवार्यता होती है। इस कारण यहाँ ज्ञानप्राप्ति के साधनरूप श्रोत्र संज्ञक अंगों में श्रोत्रेन्द्रिय के दीर्घकाल तक बने रहने की प्रार्थना की गई है। जहाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसकी आवश्यकता होती है, वहीं लौकिक व्यवहारों में भी चक्षु इन्द्रिय के पश्चात् इसी इन्द्रिय का स्थान होता है।

इन चार इन्द्रियों में शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना के उपरान्त साधक सम्पूर्ण शरीर पर विचार करते हुए अग्रिम मन्त्रों से प्रार्थना करने के क्रम में अपना ध्यान नाभि क्षेत्र में लगाता है।

ओं नाभिः।

नाभि को शरीर का केन्द्र माना जाता है। नाभि द्वारा ही गर्भस्थ शिशु का माँ से सम्बन्ध होता है। इसी के द्वारा उसका सम्पूर्ण पोषण होता है। नाभि क्षेत्र में शरीर के तीन प्रमुख तन्त्र विद्यमान होते हैं- पाचन तन्त्र, उत्सर्जन तन्त्र और उत्पादक तन्त्र। इसमें पाचन तन्त्र सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण होता है, जिसके दुर्बल होने पर शरीर के सभी अंग दुर्बल हो जाते हैं। उत्सर्जन तन्त्र शरीर के विजातीय तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालता है, ऐसा न होने पर

सम्पूर्ण शरीर रोगी हो जाता है। उत्पादक अंगों के सामर्थ्य के लिए इसलिए प्रार्थना की गई है, क्योंकि इनके सामर्थ्यवान और संयमित होने पर ही पुरुषत्व और स्त्रीत्व निर्भर करते हैं। इनके दुर्बल होने पर अन्य सभी अंग भी दुर्बल हो जाते हैं या होने लगते हैं। इन तीनों ही तन्त्रों से शरीर के सभी अंग प्रभावित होते हैं। इसलिए साधक 'ओं नाभिः' कहकर ईश्वर से यह प्रार्थना करता है कि नाभिक्षेत्र में स्थित उसके तीनों तन्त्र नाभिरूप में बने रहें। यहाँ नाभि पद 'नह बन्धने' धातु से व्युत्पन्न होता है, इसका अर्थ यह है कि नाभिक्षेत्र में विद्यमान तीनों तन्त्र सम्पूर्ण शरीर के अंगों को किसी न किसी प्रकार बाँधे रखते हैं अर्थात् प्रभावित करते हैं। इसी कारण काठक संहिता में कहा गया है- 'नाभिर्वै प्राणान् दाधार ये चोर्ध्वा ये चावाञ्चः'। (काठ.37.16)

यहाँ संकेत मिलता है कि सभी दस प्राणों का किसी न किसी प्रकार से नाभि से सम्बन्ध अवश्य है। जिस प्रकार अन्तरिक्ष से विभिन्न लोक बँधे रहते हैं, उसी प्रकार नाभि से सम्पूर्ण शरीर बँधा रहता है, इसलिए पुरुष-सूक्त में अन्तरिक्ष को परमपुरुष परमात्मा की नाभि कहा है अर्थात् उसको नाभि से उत्पन्न होने वाला बताया गया है— नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षम् (यजु.31.13)।, जिस प्रकार अन्तरिक्ष में सभी लोकों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सभी प्राणियों की उत्पत्ति भी नाभिक्षेत्र में होती है। इस कारण इन सभी तन्त्रों के स्वस्थ और बलवान् बने रहने की प्रार्थना यहाँ की गई है।

ओं हृदयम्।

उपर्युक्त तीन तन्त्रों पर चिन्तन करने के पश्चात् साधक अपने हृदय पर चिन्तन करता है। हृदय का कार्य सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त को पहुँचाना और सम्पूर्ण शरीर के अशुद्ध रक्त को पुनः संग्रहीत करना है। इस कार्य में स्वल्प अवरोध आने पर ही सम्पूर्ण शरीर समाप्त हो सकता है। इसी क्षेत्र में आत्मा का भी निवास बताया गया है। इस कारण हृदय क्षेत्र शरीर का मुख्य केन्द्र है। भावनाएँ और संवेदनाएँ इसी क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं। भावनाविहीन

व्यक्ति पशु के समान होता है, इस कारण इस दृष्टि से भी यह क्षेत्र अति महत्त्वपूर्ण है। वीरता और साहस भी इसी अंग के गुण हैं। हृदय से दुर्बल व्यक्ति कभी वीर–साहसी नहीं बन सकता। इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा साधक परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि उसका हृदय अपने रक्त परिसंचरण की क्रिया को सुचारु रूप से संचालित करने में समर्थ होवे। इसके साथ ही इसमें उदात्त भावनाएँ और वीरत्व जैसे गुणों की भी सदैव विद्यमानता रहे। दया, करुणा जैसे भाव भी हृदय के ही गुण होते हैं। इस मन्त्र के द्वारा हृदय में दया व करुणा जैसे मानवीय सद्गुणों के विकास की प्रार्थना भी की गई है। साधक को चाहिए कि इस पर विचार करते समय अपने हृदय में ऐसे गुण जागरित करने की भावना भी हृदय से ही करे।

ओं कण्ठः।

हृदय के पश्चात् साधक कण्ठ पर चिन्तन करता है। कण्ठ एक ऐसा स्थान है, जो सिर को धड़ से जोड़ता है। वाक् एवं प्राण इन दोनों का सम्बन्ध भी कण्ठ से ही होता है। उधर पाचन तन्त्र एवं श्वसन तन्त्र, जिनके कारण अन्य सभी तन्त्र जीवित रहते हैं, का मार्ग भी कण्ठ से ही निकलता है। मस्तिष्क को सभी शरीराङ्गों से जोड़ने का मार्ग भी कण्ठ ही है। इस प्रकार यहाँ ईश्वर से कण्ठ के बलवान् होने की कामना के द्वारा शरीर के इन सभी अङ्गों वा तन्त्रों के स्वस्थ व बलवान् होने की कामना की गई है। कण्ठ के निर्बल होने का तात्पर्य यह है कि वाणी, पाचन तन्त्र एवं श्वसन तन्त्र सभी निर्बल हो जाएँगे और इनके निर्बल होने से सम्पूर्ण शरीर निर्बल हो जाएगा। लोक में भी प्रायः जिन प्राणियों की गर्दन दुर्बल होती है, वे न्यूनबलयुक्त ही होते हैं।

ओं शिरः।

उपर्युक्त सभी अङ्गों का संचालक मस्तिष्क होता है और इस मस्तिष्क का निवास सिर में होता है। इस कारण 'ओं शिरः' इससे साधक यह प्रार्थना

करता है कि उसका मस्तिष्क स्वस्थ और बलवान् बना रहे। मस्तिष्कगत बुद्धि आदि तत्त्व भी बलवान् बने रहें। मनुष्य के पास बुद्धि ही ईश्वर का सर्वोच्च वरदान है। कोई व्यक्ति कितना ही बलवान् क्यों न हो, यदि वह बुद्धिहीन है, तो उसका महत्त्व किसी पशु से अधिक नहीं है। व्यवहार में यह देखा जाता है कि पागल व्यक्ति प्रायः किसी भी रोग से ग्रस्त नहीं होते। शीत, उष्णता अथवा संक्रामक रोगों का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता, जबकि बौद्धिक कार्य करने वाले अनेक रोगों से ग्रस्त हो सकते हैं। इतने पर भी पागल व्यक्तियों का जीवन सर्वथा निरर्थक होता है। बुद्धि के अभाव में सारे अङ्ग महत्त्वहीन ही रहते हैं, इसलिए उपर्युक्त सारे अङ्गों पर चिन्तन करने और उनको स्वस्थ बनाए रखने की प्रार्थना के पश्चात् सिर के स्वस्थ और बलवान् रहने की प्रार्थना की जाती है।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम्।

उपर्युक्त सभी अङ्गों के पश्चात् साधक दोनों भुजाओं को यश और बल से युक्त होने की प्रार्थना करता है। शरीर में कितना ही बल क्यों न हो, उसकी अभिव्यक्ति और प्रयोग भुजाओं के द्वारा ही सम्भव है। भुजाएँ सम्पूर्ण शरीर की रक्षक होती हैं। भुजाओं के कटने पर बलवान् से बलवान् योद्धा भी सर्वथा बलहीन हो जाता है। भुजाओं के पुरुषार्थ से ही कोई भी मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह कर सकता है। भुजाओं में बल के साथ यहाँ यश की भी कामना की गई है, क्योंकि आततायी, लोभी बड़े-2 बलवान् देखे जाते हैं। जिस पापी पुरुष में जितना अधिक बल होता है, वह पाप भी उतने ही अधिक भयंकर कर सकता है। वह अपनी वाणी और बुद्धि आदि में आए दुष्ट विचारों को उतना अधिक क्रियान्वित कर सकता है, जितना अधिक उसकी भुजाओं में बल होता है। यदि ऐसा नहीं होता है, तो उसे अन्य किसी की भुजाओं का आश्रय लेना होगा। भुजाओं का आश्रय लिए बिना कोई भी अपराधी किसी भी अपराध को नहीं कर सकता। इस कारण यहाँ बल के साथ-2 यश की कामना की गई है। अपराधी के भयंकर कर्म कभी यश की श्रेणी में नहीं आ

सकते। जब किसी व्यक्ति का बल यशस्वी होता है, वह परोपकार आदि कर्मों के द्वारा ही होता है और परोपकार करना केवल मनुष्य का ही सामर्थ्य है, अन्य किसी प्राणी का नहीं। इसलिए यहाँ भुजाओं को बल और मस्तिष्क, हृदय आदि अंगों की भावना के साथ बल के प्रयोग से यशस्वी होने की प्रार्थना की गई है।

ओं करतलकरपृष्ठे।

हाथ की हथेली और उसका पृष्ठभाग ये भुजाओं के वे भाग हैं, जिनके द्वारा ही भुजाएँ अपने सारे कार्य सम्पन्न कर पाती हैं। भुजाओं के सभी अच्छे वा बुरे कार्य करने में यही भाग, विशेषकर अंगुलियाँ अग्रगामिनी होती हैं। यश और बल दोनों का सम्बन्ध यहाँ भी उपर्युक्तानुसार समझना चाहिए। 'करः' पद स्वयं 'डुकृञ् करणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण शरीर की उपयोगिता हाथों से ही सिद्ध होती है। सम्पूर्ण शरीर की शुद्धि भी हाथ ही करते हैं। एक्यूप्रेशर व एक्यूपंचर के विशेषज्ञों के मत में इसी भाग में सभी अंगों के केन्द्र होते हैं, जो केवल हाथों के उन-उन केन्द्रों पर दबाव देने अथवा सूचीभेदन से शरीर के आन्तरिक अंग भी स्वस्थ हो जाते हैं। इस कारण इन अंगों के बलवान् व यशस्वी होने की प्रार्थना की गई है।

ज्ञातव्य—

यहाँ बल और यश का सम्बन्ध अन्य मन्त्रों अर्थात् उसमें निर्दिष्ट अंगों से जोड़कर देखना चाहिए। यहाँ जल से स्पर्श यही संकेत देता है कि हम प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को जल के समान निर्मल व प्राणवान् बनाने का यत्न करें। यहाँ साधक जिस-2 अंग का स्पर्श करता है, उस-2 अंग में परमपिता परमात्मा की कृपा से एक विशेष बल व ऊर्जा का संचार होता हुआ अनुभव करता है।

मार्जन-मन्त्राः

ओं भूः पुनातु शिरसि।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे।
ओं महः पुनातु हृदये।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम्।
ओं तपः पुनातु पादयोः।
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

ओं भूः पुनातु शिरसि।

प्राणों के आधार, सत्यस्वरूप एवं सभी अप्रकाशित लोकों के स्वामी परमात्मा! आप हमारे शिर अर्थात् मस्तिष्क में पवित्रता स्थापित कीजिए। इस शरीर में मस्तिष्क ही सम्पूर्ण शरीर का संचालक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा का प्राणत्व गुण सम्पूर्ण सृष्टि का संचालक होता है और स्वयं प्राणतत्त्व भी अन्य सभी पदार्थों का प्रेरक व संचालक है। इस कारण सिर की पवित्रता के लिए परमात्मा के इन गुणों से स्तुति सुसंगत है। शरीर के सभी अंगों के दोषों के परिष्कार के लिए मस्तिष्कगत विचारों का परिष्कृत होना अनिवार्य है। यदि मनुष्य का तन्त्रिका तन्त्र निर्दोष हो जाए, तो अन्य सभी अंगों के निर्दोष होने में सहजता होगी। यदि विचारों की शुद्धि हो जाए, तो सभी इन्द्रियों के व्यवहारों की शुद्धि सहज हो सकती है, इसलिए सर्वप्रथम विचारों की शुद्धि की कामना की गई है। किसी भी मनुष्य में पाप अथवा पुण्य का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम मन अर्थात् मस्तिष्क में ही होता है। इस कारण

यदि मस्तिष्कगत विचारों को शुद्ध कर लिया जाए, तो किसी भी प्रकार के पाप का उदय हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में संसार में कभी कोई अपराध नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही परोपकारी और आध्यात्मिक विचारों के उदय से सुखी और सुसंस्कृत समाज की स्थापना हो सकेगी।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः।

अपानस्वरूप अर्थात् दुःख-दुर्व्यसनों को दूर करने वाले, अन्तरिक्ष लोक के स्वामी एवं चेतनस्वरूप परमात्मा! हमारे नेत्रों में पवित्रता का स्थापन कीजिए। जैसे परमात्मा आकाश तत्त्व के द्वारा दूर एवं दूरतर लोकों को बाँधे रखता है और आकाश में भिन्न-2 तरंगों का संचरण करता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा नेत्रों के माध्यम से आकाशस्थ सुदूर एवं निकटवर्ती लोकों से सतत जुड़ा रहता है। आकाश में संचरित प्रकाश तरंगों को ग्रहण करके मस्तिष्क के द्वारा प्राप्त ज्ञान का सर्वाधिक भाग नेत्रों द्वारा ही ग्रहण करता है। संसार के विषयों को देखकर सुख और दुःखों की अनुभूति भी नेत्रों द्वारा ही सर्वाधिक होती है। पाप और पुण्य के विचार भी नेत्रों के माध्यम से देखे गए दृश्यों द्वारा ही उसके मस्तिष्क में सबसे अधिक आते हैं। संसार का ज्ञान भी उसे नेत्रों से देखकर अथवा पढ़कर ही सबसे अधिक होता है। हम अन्य इन्द्रियों के द्वारा निकटवर्ती पदार्थों से ही प्रभावित होते हैं, कानों के द्वारा कुछ दूरस्थ पदार्थों से भी प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन नेत्र दूर-दूर तक फैले विशाल अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थों से भी प्रभावित होते हैं। इस कारण मस्तिष्क के पश्चात् सबसे अधिक पवित्रता की आवश्यकता नेत्रों को ही होती है। यहाँ परमात्मा के चेतन गुण को उद्धृत किया गया है। शरीर के अन्य बाह्य अंगों की अपेक्षा चेतना का प्रतिबिम्ब आँखों में ही झलकता है और आँखों में ही व्यक्ति के मनोभाव व संवेदनाएँ भी प्रतिबिम्बित होते हैं। इस कारण नेत्रों से चितिस्वरूप परमात्मा से प्रार्थना का सम्बंध तर्कसंगत सिद्ध होता है। अपनी दृष्टि की व्यापकता के कारण नेत्रों का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से भी सिद्ध होता है।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे।

सभी प्रकार की चेष्टाओं का निमित्त, आदित्य आदि प्रकाशित लोकों का स्वामी, आनन्दस्वरूप और आनन्दप्रदाता परमेश्वर! हमारे कण्ठक्षेत्र पवित्रता स्थापित कीजिए। इस सृष्टि में सूर्यादि लोक अपनी किरणों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी वाणी के द्वारा ही अपने ज्ञान का प्रकाश कर पाता है। बिना किरणों के कोई भी प्रकाशित लोक किसी को कोई मार्ग नहीं दिखा सकता, इसी प्रकार कण्ठ अर्थात् वाणी से विहीन कोई भी व्यक्ति किसी को भी किसी प्रकार का ज्ञान नहीं दे सकता। संसार में जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह उतना अधिक आनन्द भी प्राप्त कर सकता है। परमात्मा अनन्त ज्ञानयुक्त होने के कारण ही अनन्त आनन्दयुक्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति किसी को जितना सुख वाणी के द्वारा दिए गए सदुपदेशों से दे सकता है, उतना सुख वह किसी अपार सम्पदा को देकर भी नहीं दे सकता। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सभी प्रकार की सृष्टि प्रक्रियाओं का प्रधान निमित्त कारण है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा होने वाले सभी व्यवहारों का प्रधान कारण सदुपदेश ही हैं, इसलिए 'स्वः' रूप परमात्मा से कण्ठ के पवित्र होने की प्रार्थना की गई है। आज संसार में सर्वाधिक अभाव यदि किसी वस्तु का है, तो वह सदुपदेश का अभाव ही है, जिसके कारण सम्पूर्ण संसार अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित होकर सच्चे सुख और आनन्द से वञ्चित है।

ओं महः पुनातु हृदये।

हे सर्वव्यापक परमेश्वर! हमारे हृदय में पवित्र भावों का संचार कीजिए। हृदय के व्यापकता से सम्बन्ध को हम इस प्रकार समझने का प्रयास करते हैं— हृदय जहाँ रक्त के द्वारा शरीर के सभी अंगों को पवित्र करता है, उन्हें ऊर्जा व पोषण प्रदान करता है, वहीं अपनी भावनाओं और संवेदनाओं के द्वारा भी समूचे शरीर को प्रभावित करता है। इसी प्रकार परमात्मा भी सृष्टि

के सभी सूक्ष्म से लेकर स्थूल पदार्थों को मूलरूप से ऊर्जा व पोषण प्रदान करता है। नाना प्रकार की रश्मियों के द्वारा वह विभिन्न पदार्थों की विभिन्न क्रियाओं को शुद्धता प्रदान करता है और योगनिष्ठ साधकों के भावों को पवित्रता प्रदान करता है। इस कारण उस व्यापक परमात्मा से हृदय के भावों और संवेदनाओं को पवित्र करने की प्रार्थना की गई है।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्।

हे सकल सृष्टि के उत्पादक परमात्मा! आप हमारे नाभिक्षेत्र में शरीर के पूर्वोक्त तीनों तन्त्रों में पवित्रता स्थापित कीजिए। शरीर का पाचन तन्त्र नाना प्रकार के रसों को उत्पन्न करके सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है और ऐसा करने के लिए उन रसों से शरीर में सभी सप्त धातुओं का निर्माण होता है। इन रस आदि के उत्पादन की प्रक्रियाओं में जो भी अवशिष्ट वा विजातीय पदार्थ होता है, उसे भी नाभि क्षेत्र में स्थित उत्सर्जन तन्त्र बाहर निकलता है। यदि इन दोनों ही तन्त्रों में कोई भी अशुद्धि वा विकृति आ जाए, तो उसका कष्ट सम्पूर्ण शरीर को भोगना पड़ता है। चिकित्सा विज्ञानियों की दृष्टि से शरीर के सभी रोगों का प्रमुख एवं प्राथमिक कारण इन दोनों ही तन्त्रों की अशुद्धि वा विकृति है। अशुद्ध आहार और उत्सर्जन तन्त्र की विकृति न केवल शारीरिक रोगों को उत्पन्न करती है, अपितु मनोविकारों एवं बुद्धि को भी विकृत करती है। इस कारण इन दोनों ही अंगों का पवित्र व स्वस्थ रहना अनिवार्य है। इसी क्षेत्र में गर्भस्थ शिशु का भी निर्माण होता है। इस कारण इस निर्माण की प्रक्रिया और उत्पादक अंगों की शुचिता भी अनिवार्य है। इसके बिना स्वस्थ और संस्कारित सन्तान का निर्माण नहीं किया जा सकता। इसलिए इस मन्त्र में उत्पादक परमात्मा से इन सभी पदार्थों और शिशु के निर्माण हेतु इन सभी अंगों की शुचिता की प्रार्थना की गई है।

ओं तपः पुनातु पादयोः।

वह तपः स्वरूप परमात्मा हमारे पैरों में पवित्रता प्रदान करे। यहाँ

'तपः' पद के अनेक अर्थ सम्भव हैं, जिनमें प्रथम अर्थ है- अपने नियन्त्रण सामर्थ्य से सम्पूर्ण सृष्टि को थामने वाला और तप का दूसरा अर्थ है- प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक अनिष्ट पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करके सतत क्रियाशील रहना और तीसरा अर्थ है- सम्पूर्ण सृष्टि को आधार प्रदान करना। शरीर में पैरों का भी यही कार्य है। पैर ही सभी पैर वाले प्राणियों के जीवन भर आधार का काम करते हैं। सारे जीवन पैर ही सम्पूर्ण शरीर का भार ढोते रहते हैं। कीचड़, कंकड़, पत्थर, काँटे कहीं भी जाना हो, ये पैर ही सम्पूर्ण शरीर को ऐसी विपत्तियों से पार कराते हैं और इन सभी पीड़ाओं को पैर ही सहन करते हैं। इसी प्रकार परमात्मा भी हम सबको दुःखों से पार लगाने वाला है। पैरों की विकृति महाबलवान् और बुद्धिमान् व्यक्ति को भी असहाय बना देती है। इसलिए यहाँ ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह परमात्मा हमारे पैरों को पवित्र रखे। हमारे पैर न केवल रोगरहित होवें, अपितु वे सदैव सुमार्ग पर भी चलें।

ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि।

वह सत्यस्वरूप परमात्मा हमारे शिरस्थ अंगों को पुनः पवित्र करे। पवित्रीकरण की कामना का प्रारम्भ सिर से ही हुआ था। यह सिर ही सम्पूर्ण शरीर का संचालक और निर्देशक है। यही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र है। परमात्मा भी सत्यस्वरूप इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि के सत्यविज्ञान को जानने वाला है। सृष्टि के पश्चात् प्रलय और इन दोनों के अनादि व अनन्त प्रवाह को भी जानने वाला है। वही सब जीवात्माओं के सब प्रकार के कर्मों और संस्कारों को जानने वाला है। इसके अतिरिक्त भी जो कुछ भी है, उस सबमें प्रतिष्ठित होकर उसका यथार्थ स्वरूप जानने वाला है। इसी प्रकार शरीर में विद्यमान सभी अंगों को यह जीवात्मा जितना भी जानता है, वह इस मस्तिष्क व उसमें स्थित बुद्धि के द्वारा ही जानता है। शरीर के अतिरिक्त सृष्टि आदि के विषय में भी हम जो भी जानते हैं वा जान सकते हैं, उसका साधन भी यही सिर है। त्वचा के अतिरिक्त सभी ज्ञानेन्द्रियाँ केवल

इसी भाग में विद्यमान हैं। ये इन्द्रियाँ बुद्धि के सापेक्ष साधन का कार्य करती हैं। इन सबके द्वारा प्राप्त ज्ञान जितना अधिक शुद्ध और सत्य होगा, वह उतना ही अधिक सुख को प्राप्त कर सकेगा। इस कारण सर्वोच्च सत्यविज्ञानी परमात्मा से पुनः शिरस्थ अंगों को पवित्र करने की प्रार्थना की गई है।

शास्त्रों में सत्य की महिमा सर्वोपरि दर्शायी है, इसी आशय से उपनिषत्कार ने कहा है— **'नहि सत्यात्परो धर्मः'।** मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का कथन है- **'सत्यमेवेश्वरो लोके'।** उधर स्वयं वेद में कहा है- **'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः'।** ऐसे सत्य के भण्डार परमात्मा से सत्य के द्वारा ही बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करने की यहाँ प्रार्थना है। भगवान् मनु का कथन है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ [मनुस्मृति 5.109]

यहाँ मन का सत्य के द्वारा शुद्ध होना स्पष्ट है। ज्ञान भी सत्य का ही दूसरा नाम है, जो सत्य नहीं है, उस जानकारी को ज्ञान भी नहीं कह सकते। इस कारण ज्ञान के द्वारा बुद्धि का पवित्र होना भी सत्य के द्वारा बुद्धि का पवित्र होना कहा जाएगा।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

सिर से लेकर पैर तक सभी अङ्गों के पवित्र करने की प्रार्थना में सम्पूर्ण शरीर की पवित्रता की प्रार्थना समाहित है, पुनरपि आकाश के समान व्यापक सर्वतोमहान् परमात्मा से सर्वत्र पवित्रीकरण की कामना की गई है। यहाँ 'सर्वत्र' शब्द का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। शरीर के पवित्रीकरण की कामना के पश्चात् 'सर्वत्र' शब्द का प्रयोग होना यह दर्शाता है कि इसमें साधक स्वयं के पवित्र होने की प्रार्थना तो नहीं कर रहा है, बल्कि अपने चारों ओर विद्यमान परिवेश के पवित्र होने की कामना कर रहा है। यदि हमारा

शरीर और भाव पवित्र हो भी जाएं, परन्तु अन्य मनुष्यों का व्यवहार अपवित्र रहे, अन्य प्राणी और वनस्पति यदि अपवित्र वा दोषयुक्त होवें, तब केवल हमारी पवित्रता भी हमें सुख नहीं दे पाएगी। इसी कारण यहाँ सर्वव्यापक परमात्मा से सभी पदार्थों के पवित्र होने की प्रार्थना की गई है।

यहाँ साधक जिस-2 अंग की पवित्रता हेतु प्रार्थना करता है, उस-2 अंग के दोषों को विचारता हुआ उनके दूर होने और उस-2 अंग में पवित्रता का संचार होता हुआ भी अनुभव करता है।

प्राणायाम-मन्त्राः

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥

इन सभी पदों की व्याख्या हम मार्जन मन्त्रों में कर चुके हैं। पाठक/साधक उसको विचाार करते हुए, प्राणायाम करते समय तदनुकूल भावना बनाने का प्रयास करे। प्राणायाम करते समय श्वास-प्रश्वास के साथ इन मन्त्रों में निर्दिष्ट परमात्मा की शक्तियों को अपने शरीर में प्रवेश करता हुआ अनुभव करे।

अघमर्षण-मन्त्राः

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ [ऋग्वेद 10.190.1]

इन तीनों मन्त्रों का ऋषि अघमर्षण है। [**अघः** = किल्विषम् (म.द.ऋ.भा. 5.3.7), अघं हन्तेर्निर्हृसितोपसर्ग आहन्तीति (नि.6.11)] यहाँ 'किल्विष्' वे बाधक पदार्थ हैं, यह असुर पदार्थ का ही एक रूप है। ये असुर तत्त्व किन्हीं भी कणों के संगतिकरण वा संलयन में अवरोध पैदा करते हैं। ऐसे पदार्थ को नष्ट करने वाली रश्मियाँ ही अघमर्षण ऋषि कहलाती हैं। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वज्र रश्मियों से होती है। इनका देवता 'भाववृत्तम्' और छन्द विराडनुष्टुप् है। [**वृत्तम्** = सर्वतो दृढम् (म.द.ऋ.भा. 4.31.4)] इस प्रकार 'भाववृत्तम्' पद का अर्थ है- पदार्थ के घनीभूत होने की प्रक्रिया। इस प्रकार इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सृष्टि उत्पत्ति के समय सूक्ष्म पदार्थों के संघनन की प्रक्रिया में भाग लेने वाली विभिन्न छन्द रश्मियाँ सहजता से कार्य करने लगती हैं।

आधिदैविक भाष्य

(**ऋतम्, च, सत्यम्, च, अभिऽइद्धात्, तपसः, अधि, अजायत**) वह परमात्मा [**तपः** = तपसि विज्ञाने (ऋ.भा.भू. ब्रह्मविद्याविषय), तपो दीक्षा' (श.3.4.3.2),'तपः स्विष्टकृत् (श.11.2.7.18)] सृष्टि रचने की अपनी कामना को जाग्रत करते हुए अपने सामर्थ्य से विज्ञानपूर्वक सर्वप्रथम ऋत और सत्य इस युग्म को प्रकट करता है।

[**ऋतम्** = ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै.उ.3.6.8.5), ब्रह्म वाऽऋतम् (श.4.1.4.10, जै.उ.3.6.8.5), **सत्यम्** = सत्यं कस्मात्? सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा (नि.3.13) सत्यं ब्रह्मणि (प्रतिष्ठितम्) (ऐ.3.6)]

यहाँ 'ऋत' का तात्पर्य सर्वप्रथम उत्पन्न परा 'ओम्' रश्मि से है। ये 'ओम्' रश्मियाँ सदैव ब्रह्म से प्रेरित होने के कारण तथा सम्पूर्ण मूल प्रकृति पदार्थ में उत्पन्न वा व्याप्त होने के कारण ही ब्रह्म कहलाती हैं। यह रश्मि अन्य

सभी पदार्थों के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण एवं सभी क्रिया व बलों का मूल होने के कारण भी ब्रह्मरूप कहलाती है। इसकी उत्पत्ति के पश्चात् वह परमात्मा सत्य अर्थात् प्रकृति के अक्षररूप अवयवों को उत्पन्न वा जाग्रत करता है। यहाँ उत्पन्न करने का तात्पर्य उन अक्षररूप रश्मियों को अव्यक्त से व्यक्त कर देना, निष्क्रिय से सक्रिय कर देना मात्र है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वह ईश्वर सर्वप्रथम अव्यक्त 'ओम्' रश्मियों को ऊर्जा प्रदान करके सक्रिय करता और उनके द्वारा ही फिर अन्य अक्षर रश्मियों को जाग्रत वा सक्रिय करता है। यहाँ 'च' निपात का दो बार प्रयोग हुआ है, यह इस बात का संकेत है कि ईश्वर का ऋतरूप 'ओम्' रश्मियों से सीधा जुड़ाव रहता है और 'ओम्' रश्मियों का अन्य सभी अक्षररूप रश्मियों से सीधा जुड़ाव रहता है। यहाँ 'जनी प्रादुर्भावे' धातु का 'अधि' उपसर्गपूर्वक प्रयोग हुआ है। इस उपसर्ग को महर्षि यास्क ने उपरिभाव एवं ऐश्वर्य, इन दो अर्थों में प्रयुक्त माना है। इसका अर्थ यह है कि 'ओम्' एवं अन्य अक्षररूप रश्मियाँ सृष्टि के सभी सूक्ष्म व स्थूल पदार्थों के ऊपर प्रतिष्ठित रहती हुई उन्हें नियन्त्रित भी करती हैं। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद 4.30.12 के भाष्य में इस उपसर्ग को मध्य अर्थ में भी ग्रहण किया है और ऋग्वेद 1.126.1 के भाष्य में आधार अर्थ में भी इसे प्रयुक्त माना है। इस कारण ये रश्मियाँ सभी पदार्थों के मध्य एवं आधार भाग में भी अर्थात् सर्वत्र विद्यमान होती हैं। ये रश्मियाँ सृष्टि में आज भी आवश्यकतानुसार प्रकट वा व्यक्त होती रहती हैं। इन सबका प्रकटीकरण और मेल विज्ञानपूर्वक ही होता है। यहाँ 'तपसः' पद के विशेषण के रूप में 'इद्धात्' पद का प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि वह तपःसंज्ञक विज्ञान उसी समय प्रकाशित होता हुआ स्वयं प्रकट होता है। इसके पूर्व यह विज्ञान परमात्मा में ही अव्यक्त भाव से विद्यमान होता है।

(**ततः, रात्री, अजायत, ततः, समुद्रः, अर्णवः**) उस ईश्वर से रात्रिरूप अहंकार उत्पन्न होता है। इस विषय में महाभारतकार ने ब्रह्मादि ऋषियों को उद्धृत करते हुए लिखा है—

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्॥ 1॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वे विविधमिन्द्रियम्।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते॥ 18॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व. अध्याय-42)

अर्थात् अहंकार (जिसे हम इस ग्रन्थ में अनेकत्र मनस्तत्त्व के समकक्ष ही वर्णित कर चुके हैं।) से ही पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनमें से आकाश महाभूत की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। इसी समय श्रोत्र-इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है।

उधर इस विषय में महर्षि भृगु ने महर्षि भरद्वाज से कहा है-
पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ॥ 9॥

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः॥ 10॥
(महाभारत शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अध्याय-183)

अर्थात् सम्पूर्ण अहंकार (मनस्तत्व) पदार्थ स्थिर अनन्त अवकाशरूप तमोमय आकाश के समान तथा उसी में विद्यमान था। उस समय चन्द्र, सूर्य, वायु आदि सभी पदार्थ नष्ट अर्थात् अपने कारण रूप उस अचल, अनन्त पदार्थ के भीतर सो रहे थे अर्थात् उसी में लीन थे। उस अहंकार वा मनस्तत्व से सलिल [सलिलम् = आपो ह वा ऽइदमग्रे सलिलमेवास (श.11.1.6.1), अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.7.49.1), (आपः = अन्तरिक्षनाम - निघं.1.3)] अर्थात् सबको अपने अन्दर व्याप्त वा लीन करने वाला आकाश नामक महाभूत उत्पन्न हुआ। वह आकाश ऐसा प्रतीत होता था, मानो एक अन्धकार में उसी

से दूसरा अन्धकार उत्पन्न हुआ। अन्धकार को ही ऋषियों ने रात्रि कहा है- 'तमो रात्रिः'। (तै.1.5.9.5) और रात्रि को सावित्री भी कहा है- 'रात्रिः सावित्री' (गो.पू. 1.33)। सर्वविदित है कि अहंकार से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस कारण सावित्री और रात्रि दोनों ही पद अहंकार तत्त्व के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि 'ओम्' एवं अन्य अक्षररूप रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् ही मूल प्रकृति अहंकार में परिवर्तित होती है।

[**समुद्रः** = समुद्रः अन्तरिक्षनाम (निघं.1.3), अयं वै समुद्रो योऽयं (वायुः) पवतऽएतस्माद्वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति (श.14.2.2.2), आपो वै समुद्रः (श.3.8.4.11)। **अर्णम्** = उदकनाम (निघं.1.12)]

उस अन्धकार रूप अहंकार से असंख्य तन्मात्राओं से युक्त वायुतत्त्व से भरा हुआ आकाश उत्पन्न होता है। यहाँ इस विशाल आकाशस्थ पदार्थ को उदकयुक्त भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सम्पूर्ण पदार्थ जल की भाँति एक दूसरे को सिंचित करता हुआ अर्थात् एक दूसरे के साथ संयोग की प्रवृति वाला होकर विशाल धाराओं के रूप में बहता रहता है अथवा जल से भरे सागर की भांति सम्पूर्ण क्षेत्र में लहरों से युक्त होता रहता है। अहंकार-रूप पदार्थ में जो शान्ति व अपेक्षाकृत स्थिरता विद्यमान होती है, वह अवस्था भङ्ग होकर पदार्थ अनेक प्रकार की रश्मियों, तरंगों व लहरों से युक्त होने लगता है। इस समय पदार्थ में अनेक प्रकार के सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति हो चुकी होती है, जिन्हें यहाँ तन्मात्रा कहा गया है।

आध्यात्मिक भाष्य

वह परमात्मा अपने ज्ञानपूर्वक तप से सत्य=सते हितम् इति सत्यम् अर्थात् सत्यस्वरूप स्वयं में विद्यमान सृष्टि के ऋतम् अर्थात् सृष्टि के अविनाशी नियमों अर्थात् उस अविनाशी विज्ञान को प्रकट करता है। जिस प्रकार कोई

वास्तुकार भवन बनाने से पूर्व भवन के मानचित्र को अपने मस्तिष्क में उपस्थित करता है, उसी प्रकार परमेश्वर सृष्टि-विज्ञानरूप वेद को प्रकटावस्था में लाते हुए अव्यक्त प्रकृति से रात्रि रूपी महत्, अहंकार एवं मनस्तत्त्व को उत्पन्न करता है। इन्हें रात्रि इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये तीनों ही पदार्थ प्रकृति जैसे तो नहीं, परन्तु प्रायः अन्धकाररूप ही होते हैं। इसके साथ ही ये सृष्टि के सभी पदार्थों को 'रातीति रात्रिः' प्रलय के क्रम में आश्रय प्रदान करते हैं अथवा सभी लोक-लोकान्तर इन्हीं में मिल जाते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं। उन मनस्तत्त्व आदि से परमात्मा विशाल सूक्ष्म पदार्थ समूह रूपी विशाल आकाश को उत्पन्न करता है। ये सब क्रियाएँ ईश्वर के निश्चित विज्ञान के अनुसार ही होती हैं और प्रत्येक क्रिया के पीछे भी अन्तिम प्रेरणा व बल ईश्वर के ही होते हैं।

[इन मन्त्रों का आधिभौतिक पक्ष यह है कि साधक सम्पूर्ण सृष्टि को नश्वर मानकर समस्त प्राणियों को परमात्मा का परिवार मानकर सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्तता है। यदि ऐसा नहीं होता है, तो समझना चाहिए कि उसने इन मन्त्रों को आत्मसात् नहीं किया है। साधना के अतिरिक्त हम इन मन्त्रों का आधिभौतिक भाष्य भी करने का प्रयास करते हैं। इस क्रम में इस मन्त्र के देवता 'भाववृत्तम्' का अर्थ यह है कि 'जो भी पदार्थ विद्यमान हैं, उनका व्यवहार और स्वरूप'।]

आधिभौतिक भाष्य

(**अभि, इद्धात्, तपसः**) सम्पूर्ण लोकव्यवहार के ज्ञाता विद्वान् के प्रकाशमान ज्ञान और पुरुषार्थ के द्वारा (**ऋतम्, च, सत्यम्, च, अजायत**) ऋत अर्थात् सृष्टि के अनुकूल नियम और व्यवहार तथा सत्य अर्थात् वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल नाना प्रकार के विधानों का निर्माण किया जाता है। समाज वा राष्ट्र को सम्यक् रूप से चलाने के लिए दो प्रकार के नियमों की

आवश्यकता होती है, उनमें प्रथम वे नियम हैं, जो सदैव अपरिवर्तनीय रहते हैं और दूसरे प्रकार के नियम वे होते हैं, जो देश, काल व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो सकते हैं। इनमें पहले प्रकार के नियम ऋत तथा दूसरे प्रकार के नियम सत्य कहलाते हैं। दोनों ही प्रकार के विधानों को कोई वेदज्ञ योगी राजा ही बना सकता है।

(**ततः, रात्री, अजायत**) [रात्रिः = तमः पाप्मा रात्रिः (कौ.17.6.9; गो.उ.5.3), यजमानदैवत्यं वा अहः। भ्रातृव्यदैवत्या रात्रिः (तै.2.2.6.4)] उसके द्वारा ही राष्ट्र और समाज में हो सकने वाले नाना प्रकार के अनिष्ट, दुःख एवं अपराधों का विज्ञान जाना व जनाया जाता है। किसी भी राष्ट्र व समाज के संरक्षण में इनको जानना अनिवार्य है। युद्ध और अस्त्र-शस्त्र विज्ञान भी इसी का एक भाग है।

(**ततः, समुद्रः, अर्णवः**) 'समुद्र' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क का कथन है- 'समुद्रः कस्मात्? समुद्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा।' (नि.2.10) इसमें से हम 'सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि' का ही ग्रहण करना आवश्यक समझते हैं। अन्य निर्वचन आधिभौतिक अर्थ के साथ सुसंगत नहीं हैं। [**अर्णवः** = प्राणो वा अर्णवः (श.7.5.2.51)] इस प्रकार के विधानों से ब्रह्मवेत्ता राजा ऐसे प्राणवान् राष्ट्र का निर्माण करता है, जिसमें रहने वाले सभी प्रजाजन और सभी प्राणी उसी प्रकार प्रसन्नतापूर्वक विचरते हैं, जिस प्रकार समुद्र में जलचर सुखपूर्वक विचरते हैं। महाभारत में भीष्म पितामह ने राजा पद का निर्वचन करते हुए कहा है- 'राजा रञ्जनात्' अर्थात् जो राजा सम्पूर्ण प्रजा को आनन्दित करता है, वही राजा कहलाने योग्य है।

ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ [ऋग्वेद 10.190.2]

(**समुद्रात्, अर्णवात्**) उस वायु और विभिन्न तन्मात्राओं से भरे हुए विशाल आकाश से अर्थात् आकाशस्थ उस पदार्थ से और इसके साथ ही इस सम्पूर्ण पदार्थ को सम्पीडित करते हुए आकाश से (**संवत्सरः, अधि, अजायत**) प्रकाशयुक्त विशाल खगोलीय मेघ उत्पन्न होता है। यहाँ 'अधि' उपसर्ग यह संकेत करता है कि यह मेघ अकेला नहीं, बल्कि अनेक मेघ उस आकाशस्थ पदार्थ के अन्दर उत्पन्न होने लगते हैं और जैसे-जैसे उन मेघों का आकार बढ़ने लगता है, वैसे -वैसे उनका ऐश्वर्य अर्थात् नियन्त्रण वा आकर्षण भी बढ़ने लगता है, इससे वे अपने निकटवर्ती पदार्थ को संघनित करते हुए और भी बड़े होते जाते हैं। इस सम्पीडन कार्य में आकाश तत्त्व की भी भूमिका होती है।

[**संवत्सरः** = संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.4.27), संवत्सरो विश्वकर्मा (ऐ.4.22), अग्निः संवत्सरः (ता.17.13.17), तस्य यद् भाति तत् संवद्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत् सर इत्यधिदेवतम् (जै.2.28-29)]

इन वचनों से उस विशाल खगोलीय मेघ का स्वरूप इस प्रकार प्रकट होता है—

वह मेघ ऊष्मा और प्रकाश से युक्त होता है, लेकिन सम्पूर्ण मेघ समान दीप्ति वाला भी नहीं होता है। इसमें अनेक क्षेत्र तेजस्वी, तो कुछ क्षेत्र कम तेजस्वी अथवा कृष्ण वर्णयुक्त होते हैं। इस विशाल मेघ में अनेक प्रकार के कण और विकिरण विद्यमान होते हैं और यह अनेक लोकों को अपने गर्भ में धारण किए होता है। इस कारण कालान्तर में सूर्य और ग्रहादि लोक इसी से उत्पन्न होते हैं।

(**विश्वस्य, मिषतः, वशी, अहोरात्राणि, विदधत्**) [यहाँ 'मिषतः' पद

'मिष स्पर्धायाम्' धातु से निष्पन्न होता है।] इस ब्रह्माण्ड में परस्पर स्पर्धा करते हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों और विशाल से विशाल लोकों, जो अपने बल के कारण एक दूसरे से स्पर्धा करते हुए प्रतीत होते हैं, उन सब पदार्थों को वश में करने वाला काल तत्त्व अहोरात्र अर्थात् प्रकाश और अन्धकार (दृश्य एवं अदृश्य पदार्थ, जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि निमित्त हुई है) की सृष्टि करता है। काल के विषय में अथर्ववेद का कथन है–

कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते॥

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ (अथर्व.19.53.5, 6, 9)

इन मन्त्रों में काल को ही सर्वकर्ता और सर्वप्रेरक कहा गया है। इसलिए यहाँ इसे सभी बलयुक्त पदार्थों का वशी कहा गया है। पदार्थों के बलयुक्त कहने का तात्पर्य यह है कि बिना बल के सृष्टि में कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है।

उसी काल तत्त्व के कारण कालान्तर में विभिन्न लोकों का निर्माण होकर उनमें परिक्रमण और घूर्णन गतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण रात और दिन की भी सृष्टि होती है और इस सृष्टि में लोक भी प्रकाशित और अप्रकाशित दो प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार कण भी दो प्रकार के होते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य

उस सद्योनिर्मित आकाश, जो सूक्ष्म कणों और विकिरणों के विशाल

महासागर का रूप धारण कर लेता है, से वह परमात्मा संवत्सर अर्थात् विशाल खगोलीय आग्नेय पिण्ड और कहीं प्रकाश व कहीं अन्धकार की सृष्टि करता है। वह परमात्मा इन सभी प्रकार की क्रियाओं का कर्त्ता एवं सञ्चालक होने के साथ-2 सभी बलों का स्वामी है। उसके बल के बिना किसी भी जड़ पदार्थ में किसी भी प्रकार के बल अथवा क्रिया का होना सम्भव नहीं है। बलपति होने के कारण ही वह समस्त सृष्टि का नियन्ता है। वह न केवल जड़ पदार्थों को बल प्रदान करने वाला है, अपितु चेतन प्राणियों को भी कर्मानुसार शरीर प्रदान करके बल प्रदान करता है। वह अपने उपासकों को आत्मबल प्रदान करके बड़े-बड़े कष्टों को सहन करने का सामर्थ्य भी प्रदान करता है। इसी कारण वेद ने कहा है— 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते' एवं 'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः'।

आधिभौतिक भाष्य

(**समुद्रात्, अर्णवात्, संवत्सरः, अधि, अजायत**) ऐसे समाज के निर्माण से [संवत्सरः = संवत्सर इव नियमेन वर्त्तमानः (विद्वज्जनो जिज्ञासुर्वा) (म.द.य.भा.27.45), संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (श.1.2.5.12), संवत्सरो यज्ञः (श.11.2.7.1) संवत्सरः सुवर्गो लोकः (तै.2.2.3.6; श.8.4.1.24)] सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्वान् लोग अनुशासित, सुसंगठित, त्यागी तथा तपस्वी होकर स्वर्गसदृश वातावरण उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। स्मरण रहे कि किसी भी राष्ट्र वा समाज को सुखी अथवा दुःखी बनाना विद्वानों के पाण्डित्य पर ही निर्भर करता है, किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जिस राष्ट्र के विद्वान् त्यागी, तपस्वी व अनुशासित होने के साथ-साथ परस्पर संगठित न हों, तो अपार पाण्डित्य होने के उपरान्त भी राष्ट्र नष्ट हो जाता है, जैसा कि महाभारत काल में देखा गया है। इसी कारण यहाँ विद्वानों के त्यागी, तपस्वी, अनुशासित व संगठित होने की बात कही है।

(**विश्वस्य, मिषतः, वशी**) राजा अपने राष्ट्र में ज्ञान, बल और धन आदि से परस्पर स्पर्धा करने वाले व्यक्तियों अथवा संगठनों को भली प्रकार नियन्त्रित वा संयमित करता है। व्यक्तियों वा संघों के मध्य अनियन्त्रित प्रतिस्पर्धा से महाशक्तिशाली राष्ट्र भी खण्ड-2 हो सकता है। इसी कारण यहाँ राजा को 'वशी' कहा गया है। वह राजा सबका वशी कैसे होता है, इसका उत्तर देते हुए कहा गया है-

(**अहोरात्राणि, विदधत्**) [**अहोरात्राणि** = ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः (तै.3.9.14.3), अहर्वै देवा अश्रयन्त रात्रिमसुराः (ऐ.4.5)। **अहन्** = अहर्विद्या (तु.म.द.य.भा.15.6)। **रात्रि** = रात्रिविद्या (तु.म.द.य.भा.15.6)] वह राजा अपने राष्ट्र के बुद्धिजीवी, उपदेशक व अध्यापक वर्ग रूपी ब्राह्मणों एवं सैनिक व प्रशासनिक अधिकारी व कर्मचारी वर्ग रूपी क्षत्रिय जनों को अहर्विद्या व रात्रिविद्या के द्वारा वश में करता है। किसी भी समुन्नत व सुखी राष्ट्र में अथवा दुःखी राष्ट्र में इन दोनों वर्गों की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इस कारण इन दोनों का अनुशासित रहना किसी राष्ट्र के लिए अनिवार्य होता है। उधर किसी राष्ट्र, जो पूर्ण आदर्श नहीं हो, में दो प्रकार के व्यक्ति वा व्यक्तियों के संघ हो सकते हैं, जिनमें प्रथम देवपुरुष होते हैं, जो सबको साथ लेकर परोपकार की भावना के साथ जीते हैं। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं, जो केवल अपने प्राण-पोषण के लिए जीते हैं। इन दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों को भी राजा अपनी इन विद्याओं और उन पर आधारित विधान के द्वारा राष्ट्र के अनुकूल बनाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि अहर्विद्या और रात्रि विद्या क्या हैं? यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन उद्धृत करना प्रासङ्गिक होगा- 'अग्निर्वाऽहः सोमो रात्रिः' (श.3.4.4.15)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अग्नि अर्थात् विद्युत् व ऊष्मा आदि से सम्बन्धित विद्या ही अहर्विद्या है एवं सोम अर्थात् वायु से सम्बन्धित विद्या (वैक्यूम एनर्जी साइन्स) को रात्रिविद्या कहते हैं।

वर्तमान विज्ञान अग्नि विद्या पर तो काम कर रहा है, परन्तु वायु विद्या का उसे कोई ज्ञान नहीं है। जब कोई राजा इन दोनों ही विद्याओं का ज्ञाता हो, वह सम्पूर्ण राज्य को सुरक्षित व सुसंगठित रखने में समर्थ होता है। इसके साथ ही इसका दूसरा आशय यह भी है कि राजा देवपुरुषों को अर्थात् विद्वान्, धर्मात्मा पुरुषों को अपने दिव्य ज्ञान द्वारा वश में करता है अर्थात् उन्हें अपने अनुकूल बनाता है और असुर जनों को दण्ड द्वारा अनुकूल बनाता है।

यहाँ 'अहन्' का अर्थ ब्राह्मण होने के कारण हमने 'ज्ञान का प्रकाश' ऐसा अर्थ किया है और 'रात्रि' का अर्थ 'क्षत्रम्' होने के कारण 'दण्ड' अर्थ किया है।

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ [ऋग्वेद-10.190.3]

आधिदैविक भाष्य

(**धाता, यथापूर्वम्, सूर्याचन्द्रमसौ,अकल्पयत्**) सबका धारण और पोषण करने वाला कालतत्त्व सूर्य और चन्द्रमा अर्थात् स्वयं प्रकाशित लोकों और उनके द्वारा प्रकाशित अन्य लोकों की रचना पूर्व सृष्टि के अनुसार करता है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के नियम सदैव अपरिवर्तित ही रहते हैं। यहाँ 'पूर्वम्' पद 'पूर्व पूरणे' धातु से भी व्युत्पन्न माना जा सकता है। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद 40.4 के भाष्य में 'पूर्वम्' पद का अर्थ 'पुरस्सरम् पूर्णम्' किया है। इस प्रकार इस मन्त्र के इस भाग का अर्थ यह भी है कि वह कालतत्त्व और उसका भी काल परब्रह्म परमात्मा सूर्य चन्द्रादि असंख्य लोकों को यथोचित और पूर्ण विज्ञान के साथ रचता है। उसकी रचना में कहीं भी किसी अपूर्णता वा त्रुटि का अवकाश नहीं रहता।

(**दिवम्, च, पृथिवीम्, च, अन्तरिक्षम्, अथ, स्वः**) उसी ने द्युलोकों एवं पृथिवी लोकों को रचकर उन दोनों के मध्य अन्तरिक्ष लोक को विस्तृत किया। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोकों का निर्माण करके उनके मध्य एक निश्चित दूरी बनाए रखते हुए अन्तरिक्ष को विस्तृत करता है। इसी कारण 'अन्तरिक्षम्' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क का कथन है- 'अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरा इमे इति वा'। (नि.2.10) ध्यातव्य है कि पहले द्युलोक एवं पृथिवी लोक परस्पर मिले हुए होते हैं, तत्पश्चात् वे एक-दूसरे से पृथक् करके निश्चित कक्षाओं में स्थापित किए जाते हैं। इसी को यहाँ अन्तरिक्ष का विस्तृत करना कहा है।

इसके अनन्तर वह काल एवं परमात्मा सबका अन्त करके महाप्रलय में सम्पूर्ण पदार्थ को लीन कर देता है। इसी कारण 'स्वः' के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— 'अन्तो वै स्वः'। (ऐ.5.20)

आध्यात्मिक भाष्य

सबका धारक वह परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाशित होने वाले सूर्यादि लोकों एवं इनके द्वारा प्रकाशित होने वाले चन्द्रादि लोकों की रचना ठीक उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार पूर्व सृष्टियों में करता आया है। ध्यातव्य है कि सृष्टि और प्रलय का चक्र प्रवाह से अनादि है और इस चक्र में जब भी जिस-2 पदार्थ की सृष्टि होती है, उसका क्रियाविज्ञान सदैव समान ही रहता है, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए उसके नियम पूर्ण और अपरिवर्तनीय हैं। वह पूर्व की ही भाँति द्युलोक, पृथिवी लोक एवं अन्तरिक्ष आदि लोकों का भी निर्माण करता है। इसके साथ ही वह मुमुक्षुओं को पूर्व की भाँति मोक्ष भी प्रदान करने वाला है। वह सम्पूर्ण सृष्टि ही सभी लौकिक व पारलौकिक सुख प्रदान करने के लिए रचता है, उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए महर्षि व्यास जी ने योगदर्शन का भाष्य करते हुए लिखा है-

'तस्यात्मानुग्रहाभावे भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।'

भावार्थ—

इन मन्त्रों के जप से पूर्व साधक अपने शरीर और इन्द्रियों को पवित्र और बलवान् बनाने की प्रार्थना करने के साथ-साथ ईश्वर के विभिन्न गुणों पर भी विचार करता है। इन उपर्युक्त तीन मन्त्रों का जप करते समय साधक सम्पूर्ण सृष्टि की सभी क्रियाओं को अपने मन की आँखों से देखता हुआ अनुभव करता है। इससे उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सूक्ष्मता और विशालता का यथावत् बोध होता है। वह सूक्ष्म कणों की गतियों के साथ-2 विशाल से विशाल लोकों को अपने सम्मुख बनते और घूर्णन व परिक्रमण करते हुए देखता है। अरबों की संख्या में लोकों की निर्माण प्रक्रिया के साथ-2 प्रत्येक लोक में लाखों प्रकार के प्राणियों वा वनस्पतियों को भी जन्मते व मरते देखता है। वह साधक अपने मन के नेत्रों से ही सृष्टि की प्रलय-प्रक्रिया को भी देखता और समझता है। इसके अन्तर्गत वह ईश्वर की महती शक्ति के द्वारा बड़े-बड़े लोकों और गैलेक्सियों को बिखर कर नष्ट होते देखता है, फिर उन सूक्ष्म कणों का भी विखण्डन होकर रश्मियों, मन, अहंकार व प्रकृति आदि में विलीन होते देखता है।

इस प्रकार उसे सम्पूर्ण सृष्टि और अपने जीवन की नश्वरता का स्पष्ट बोध होकर तथा उसकी जगत् के प्रति आसक्ति समाप्त होकर ईश्वर के प्रति अनुराग नितान्त बढ़ जाता है। इस प्रकार उसकी पाप करने की प्रवृत्ति धीरे-2 समाप्त होकर आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र होता जाता है, इस कारण भी इन मन्त्रों को अघमर्षण मन्त्र कहा गया है। वह भूमि आदि लोकों से उत्पन्न होते हुए वनस्पतियों व प्राणियों को भी देखता है। इन सब प्रक्रियाओं को देखने के साथ-2 वह अपने सूक्ष्म व स्थूल दोनों ही शरीरों की रचना पर भी सूक्ष्मता से चिन्तन करता हुआ सर्वत्र ही परमात्मा की महती महिमा का अनुभव करता है और कह उठता है- **'अणोरणीयान्महतो महीयान्'**। इस प्रकार की

अनुभूति से साधक परमेश्वर की शक्ति और ज्ञान के सम्मुख नतमस्तक होकर उसके प्रति असीम श्रद्धा से भर जाता है और उसे परमेश्वर का सृष्टि के कण-कण में साक्षात् अनुभव होने लगता है। इसी अनुभव से अभिभूत होकर अग्रिम मन्त्र द्वारा प्रार्थना करता है।

आधिभौतिक भाष्य

(**धाता, यथापूर्वम्**) सम्पूर्ण राष्ट्र का धारक और पोषक उपर्युक्त गुणों से युक्त राजा अपने पूर्वकाल में जन्मे महान् राजाओं से प्रेरित होकर उन्हीं के समान (**सूर्याचन्द्रमसौ, अकल्पयत्**) सूर्य के समान तीक्ष्ण और चन्द्रमा के समान सौम्य नीतियों का सम्पादन करता है। इसके साथ ही सूर्य की तेजस्विनी किरणों और चन्द्रमा की शीतल किरणों का नानाविध उपयोग करके (**अथ, दिवम्, च, पृथिवीम्, च, अन्तरिक्षम्**) इसके अनन्तर अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म देव कणों के विज्ञान एवं भूगर्भविज्ञान का यथाविध उपयोग करके (**स्वः**) प्रजा के लिए नाना प्रकार से सुखों का सम्पादन करता है।

इन तीनों मन्त्रों से राजा के जिन गुणों का प्रकाश होता है, उनसे यह संकेत मिलता है कि वेद की दृष्टि में राजा सम्पूर्ण सृष्टि विद्या अर्थात् परा एवं अपरा दोनों प्रकार की विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता योगी होना चाहिए। इस विषय में भगवान् मनु का कथन है-

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्॥ (मनु.7.2)

अर्थात् उचित न्याय और राष्ट्र का सम्पूर्ण संरक्षण करने के लिए क्षत्रिय राजा का ब्राह्मीय संस्कारों से पूर्णतया युक्त होना अनिवार्य है अर्थात् राजा सम्पूर्ण वेदविद्या का ज्ञाता एवं योगी होना चाहिए।

इसी कारण संध्योपासना में इन मन्त्रों की पूर्ण संगति है, क्योंकि उपासनाविहीन व्यक्ति राजा बनने का अधिकारी नहीं हो सकता।

इन तीनों मन्त्रों से प्रेरणा लेकर साधक सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा का प्रसाद मानकर सर्वथा निष्पाप होने का प्रयत्न करते हुए अनासक्त जीवन जीने का प्रयास करे। किसी की भी धन-सम्पदा, ऐश्वर्य व काम की आसक्ति का त्याग करने का प्रयत्न करते हुए सब भूतों में ईश्वर का ही दर्शन करे।

आचमन-मन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्त्रवन्तु नः ॥ [यजु.36.12]

इस मन्त्र की व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं।

अघमर्षण मन्त्रों पर विचार करने के पश्चात् साधक अपने चारों ओर सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता है और उसकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा पूर्वापेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है। इस कारण वह 'अभिस्त्रवन्तु' पद से अपने चारों ओर वर्तमान परमेश्वर से सुख, शान्ति और पवित्रता की वृष्टि होती हुई अनुभव करता है। मन्त्र वही है, अर्थ भी वही है, परन्तु ईश्वर के विषय में उसका कुछ ज्ञान और अनुभव अधिक होने से उसके भावों में प्रगाढ़ता आती है। वह अर्थ का अनुभव अधिक गम्भीरता से करता है। इस कारण वह सुख और शान्ति का अनुभव भी और अधिक गम्भीरता से करने लगता है। यहाँ इस मन्त्र को पुनरुक्त करने का यही प्रयोजन है। वह 'देवीः' और 'आपः' पदों के आध्यात्मिक अर्थों को पूर्वापेक्षा अधिक गम्भीरता से आत्मसात् करने लगता है।

मनसा-परिक्रमा-मन्त्राः

इन सभी मन्त्रों में तारे के बनने की प्रक्रिया दर्शायी गई है और जिस विशाल मेघ के संघनन से किसी तारे का निर्माण होता है, उसकी किस-2 दिशा में और किस-2 क्रम से कौन-2 सी क्रियाएँ होती हैं, यह वर्णन इन मन्त्रों में किया गया है।

दिशा आकाश महाभूत का ही विशेष भाग है। इस कारण यह पदार्थ विशेष का नाम है। यह दिक् तत्त्व प्रत्येक पदार्थ को चारों ओर से घेरे रहता है। यह विभिन्न प्रकार के छन्द रूप प्राणों से निर्मित होता है। ये छन्द रूप प्राण बहुत सूक्ष्म होते हैं, जो प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न हुए होते हैं। इसी कारण कहा- 'अथ यत्तच्छ्रोत्रमासीत्ता इमा दिशोऽभवन्' (तु.श.10.3.3.7)। यहाँ वाक् तत्त्व एवं विश्वामित्र ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण ही श्रोत्र कहलाता है, इसलिए कहा- 'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः' (श.8.1.2.6), 'वागिति श्रोत्रम्' (जै.उ.4.11.1.11)। यहाँ जिस दिशा में जिस तत्त्व की प्रधानता है, उसी तत्त्व की प्रधानता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों, विभिन्न पिण्डों, यहाँ तक कि सूक्ष्म कणों में भी अपने-2 स्तर से विद्यमान होती है। दिशा की पहचान के लिए सर्वत्र ही सूर्य के उदय और अस्त का ज्ञान आवश्यक नहीं है, बल्कि किसी भी लोक वा कण के अपने अक्ष पर घूर्णन से दिशा का निर्धारण सहजता से किया जा सकता है। अदिति, अग्नि, सोम और सविता की विद्यमानता की परीक्षा करके दिशा का ज्ञान करना अति दुष्कर किंवा असम्भव कार्य है। अतः घूर्णन से ही दिशा की परीक्षा करना सबसे सरल उपाय है। दिक् तत्त्व के विषय में संक्षिप्त जानकारी हेतु 'वेदविज्ञान-आलोकः' की पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है।
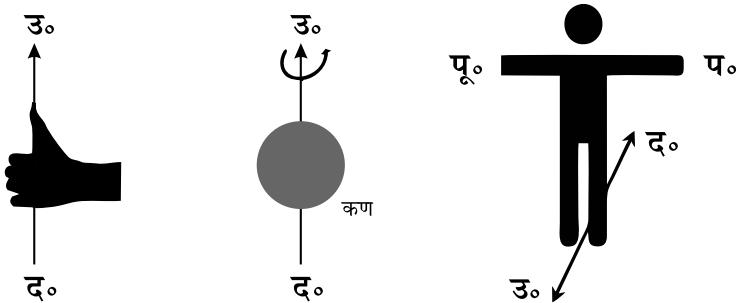
दक्षिण हस्त नियम के अनुसार अँगूठे की दिशा उत्तर कहलायेगी और उस दिशा के सम्मुख खड़े होने पर दायीं ओर पूर्व और बायीं ओर पश्चिम और पीठ की दिशा दक्षिण कहलायेगी। अंगुलियों की दिशा उस कण वा लोक के स्व अक्ष पर घूर्णन की दिशा होगी।

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

[अथर्ववेद 3.27.1]

इस मन्त्र का ऋषि अथर्वा है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अहिंसनीय रश्मियों अर्थात् प्राण रश्मियों से होती है। इसके देवता अग्नि और आदित्य हैं। इसका छन्द अष्टि है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु एवं सूर्यादि लोक अत्यन्त तीव्र और व्यापक तेज व बल से सम्पन्न होने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य

(**प्राची, दिक्, अग्निः, अधिपतिः**) उस विशाल मेघ के पूर्वी भाग में सर्वप्रथम विशेष हलचल प्रारम्भ होती है। इसके अन्तर्गत ऊष्मा का प्रादुर्भाव

होने लगता है, इसी कारण यहाँ अग्नि को पूर्व दिशा का अधिपति कहा गया है, क्योंकि यही अन्य क्रियाओं का नायक है। यहाँ अग्नि के उत्पन्न होने का तात्पर्य यह नहीं है कि उस विशाल मेघ में ऊष्मा नहीं होती, किन्तु यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि इस भाग में सर्वप्रथम ऊष्मा में वृद्धि होने लगती है अर्थात् सूर्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ यहीं से होता है। इसी कारण महर्षि ऐतरेय महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण 1.7 में कहा है- 'तस्मादसौ पुर उदेति'। दिशा के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि दिक् तत्त्व आकाश तत्त्व की भाँति ही सूक्ष्म रश्मियों से बना एक पदार्थ विशेष है और पृथक्-2 दिशाओं में पृथक्-2 रश्मियाँ विद्यमान होती हैं।

(**असितः, रक्षिता, आदित्याः, इषवः**) [**इषुः** = ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (नि.9.18) वीर्यं वाऽइषुः (श.6.5.2.10)] अग्नि के इस संवर्धन की प्रक्रिया का संरक्षक कौन होता है, यह बतलाते हुए लिखा है कि ऐसी रश्मियाँ, जो बन्धनरहित होती हैं अथवा अत्यल्प प्रकाशयुक्त अथवा वर्णहीन होती हैं, इस ऊष्मा संवर्धन की प्रक्रिया को बल प्रदान करती हैं। यहाँ बन्धनरहित विशेषण इस बात का संकेत करता है कि वे रश्मियाँ किसी स्रोत विशेष से नहीं बनी होती हैं अर्थात् वे उस क्षेत्र में सर्वत्र ही उत्पन्न हो रही होती हैं। ये आदित्य रश्मियाँ वज्र का भी कार्य करती हैं, इसीलिए वे संघनन की प्रक्रिया में बाधक बन रहे असुरादि पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित भी करती जाती हैं। ऐसा नहीं होने पर संघनन की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नहीं होती है अथवा प्रारम्भ होकर बन्द हो जाती है। इसलिए इन रश्मियों को रक्षिता कहा है।

(**तेभ्यः, नमः, अधिपतिभ्यः, नमः, रक्षितृभ्यः, नमः, इषुभ्यः, नमः, एभ्यः, अस्तु**) [**नमः** = वज्रनाम (निघं.2.20), अन्ननाम (निघं.2.7), यज्ञो वै नमः (श.2.4.2.24), अन्नं नमः (श.6.3.1.17)] इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण रश्मियाँ इन सभी पदार्थों के लिए नमोरूप होती हैं। वे प्राण रश्मियाँ इन सब प्रक्रियाओं के अधिपति वा नायकरूप अग्नि के लिए, रक्षक

और इषुरूप आदित्य रश्मियों के लिए अर्थात् इन सबके लिए नमोरूप होती हैं। यहाँ नमोरूप से निम्नानुसार अर्थ प्रकट होते हैं—

1. प्राण रश्मियाँ इन सबकी ओर झुकती हुई उनके साथ संयुक्त होकर तेज, बल और प्रेरणा प्रदान करती हैं।
2. प्राण रश्मियाँ इन सब पदार्थों के लिए अन्नरूप होती हैं अर्थात् ये सभी पदार्थ उन प्राण रश्मियों का भक्षण वा अवशोषण करके अधिक सक्रिय वा सबल हो जाते हैं।
3. वे प्राण रश्मियाँ इन सभी पदार्थों के लिए यजनरूप होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इन प्राण रश्मियों के प्रभाव से ये सभी पदार्थ यजनशील होकर संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं को समृद्ध करने लगते हैं।
4. वे प्राण रश्मियाँ इन सभी पदार्थों के लिए वज्ररूप भी होती हैं अर्थात् वे इन सब पदार्थों को अनिष्ट असुरादि पदार्थों से मुक्त करके यजन कर्मों के लिए इन पदार्थों को रोकती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये यजन प्रक्रिया से विमुख होते हुए पदार्थों को यजन क्रिया में नियुक्त करने में सहायक होती हैं।

(**यः, अस्मान्, द्वेष्टि, यम्, वयम्, द्विष्मः, तम्, वः, जम्भे, दध्मः**) जो पदार्थ हमसे अर्थात् प्राण रश्मियों के प्रति आकर्षण का भाव नहीं रखते हैं और जिन पदार्थों के प्रति प्राण रश्मियों का भी आकर्षण का भाव नहीं होता है, ऐसे उन बाधक असुर पदार्थों को ये प्राण रश्मियाँ इन अग्नि, आदित्य आदि पदार्थों की वज्ररूप रश्मियों के मुखरूप अग्रभाग की ओर प्रक्षिप्त कर देती हैं अर्थात् इन वज्र रश्मियों का वह भाग जो असुर रश्मियों पर सीधा प्रहार करता है, उन भागों में असुर रश्मियों को स्थापित कर देती हैं, जिससे वे असुर पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।

(**प्राची, दिक्, अग्निः, अधिपतिः, असितः, रक्षिता, आदित्या, इषवः**) सर्वप्रथम साधक प्राची अर्थात् अपने सम्मुख दिशा की ओर मन को ले जाते हुए अग्निस्वरूप परमात्मा की सत्ता को अनुभव करने का प्रयास करता है। 'अग्नि' पद के विषय में महर्षि यास्क का कथन है—

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।
अङ्गं नयति सन्नममानः।' (नि.7.14)

अर्थात् वह अग्निस्वरूप परमात्मा इस सृष्टि में बल एवं ज्ञानादि गुणों की दृष्टि से सबसे अग्रणी होता है। सृष्टियज्ञ के लिए सर्वप्रथम ईश्वर में ही कामना उत्पन्न होती है और वह ईश्वर ही सृष्टियज्ञ का प्रथम होता कहलाता है। वह ईश्वर अपने सानिध्य को प्राप्त साधकों को अपना अङ्ग बना लेता है अर्थात् जो भक्त ईश्वराधीन होकर संसार में जीते हैं, उन मुमुक्षुओं को वह परमात्मा मोक्ष प्रदान करता है। इस कारण सम्मुख दिशा में ध्यान जाने पर वह साधक ऐसे अग्निस्वरूप परमात्मा को ही अनुभव करता है और उसे ही अपना नायक समझकर अपना सर्वस्व समर्पित करने की भावना करता है। यहाँ 'आदित्य' पद से वह परमात्मा को अविनाशी अनुभव करता हुआ सदैव अपना इषु अर्थात् प्रेरक मानने लगता है और उसी के निर्देशानुसार अपनी वृत्तियों को पवित्र बनाने का प्रयास करता है। इषु के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— **'इषवो वै दिद्यवः'** (श.5.4.2.2)। इससे इषु का अर्थ दीप्ति या प्रकाश सिद्ध होता है। इस प्रकार आदित्यरूप परमात्मा अपने ज्ञान के प्रकाश से निरन्तर हमें सन्मार्ग में प्रेरित करता है। ऐसा अनुभव साधक अपनी सम्मुख दिशा में करता है। यहाँ 'असितः' पद का अर्थ यह है कि वह परमात्मा किसी के भी बन्धन में नहीं रह्वहता, बल्कि वह सर्वोच्च शक्ति होने के कारण सर्वथा स्वतन्त्र होता है। वह साधक इस दिशा में अग्नि व आदित्यरूप परमात्मा को

अपना रक्षक अनुभव कर स्वयं को निर्भय अनुभव करने लगता है।

(**तेभ्यः, नमः, अधिपतिभ्यः, नमः, रक्षितृभ्यः, नमः, इषुभ्यः, नमः, एभ्यः, अस्तु**) ऐसे अग्नि, आदित्य और रक्षक आदि गुणों से युक्त उन सबके प्रति साधक नम्रीभूत हो जाता है। वह इन सब गुणों से युक्त अधिपति-रूप, रक्षकरूप एवं प्रेरक व मार्गदर्शक रूप परमात्मा को, बार-बार नमन करता है। इस प्रकार इस दिशा में पूर्ण श्रद्धा से भरकर प्रार्थना करता है-

(**यः, अस्मान्, द्वेष्टि, यम्, वयम्, द्विष्मः, तम्, वः, जम्भे, दध्मः**) हे ईश्वर! इस दिशा में जो हमसे द्वेष करते हैं अथवा हमारे मन में किसी के प्रति कोई द्वेषभाव है, उसको हम आपकी द्वेषनाशक शक्ति को सौंपते हैं, जिससे आप हमारे अथवा हमसे द्वेष करने वालों के द्वेष को नष्ट करके सबके हृदय में प्रीति उत्पन्न करें। ऐसी प्रार्थना करते समय साधक अपने अन्दर छिपे द्वेषभाव को ढूँढ-ढूँढकर बाहर निकालकर सबके प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न करता है।

आधिभौतिक पक्ष

यहाँ इन मन्त्रों में एक राजा के गुण और कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। किसी भी राजा के राष्ट्र में समय-समय पर भिन्न-2 परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनका समाधान करके सम्पूर्ण राष्ट्र को सुखी और समृद्ध बनाना केवल राजा का ही कर्त्तव्य नहीं है और न केवल अकेला राजा अथवा उसका राज्य बिना किसी जन सहयोग के किसी राष्ट्र को सुखी व समृद्ध बना सकता है। इन मन्त्रों में इसी विषय की विवेचना की गई है।]

आधिभौतिक भाष्य

(**प्राची, दिक्, अग्निः, अधिपतिः, असितः, रक्षिता, आदित्या, इषवः**) विद्वान् राजा प्राची अर्थात् व्यक्तिगत एवं राष्ट्रोत्थान हेतु अग्रगामी

नायकों के लिए अग्निस्वरूप होना चाहिए। जिस प्रकार अग्नि सबका अग्रणी होकर सबको अपने साथ ले जाता है और प्रत्येक सङ्गतिकरण की क्रिया में भी वही अग्रणी होकर सबको अपने जैसा बना लेता है, वैसे ही राजा को चाहिए कि वह उन आगे बढ़ने वाले नायकों का महानायक बनकर उन सबको संगठित करे। इस कार्य में सहयोग व प्रेरणा के लिए बन्धनरहित अर्थात् सभी एषणाओं से मुक्त तथा आदित्य अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक पूर्ण विद्या प्राप्त आप्तपुरुष प्रेरक और रक्षक का कार्य करते हैं। यदि कहीं किसी नायक में कोई न्यूनता वा प्रमाद आने की आशंका होती भी है, तो ये विद्वान् उनके मार्गदर्शक बनकर उसे दूर करने का प्रयास करते हैं।

(**तेभ्यः, नमः, अधिपतिभ्यः, नमः, रक्षितृभ्यः, नमः, इषुभ्यः, नमः, एभ्यः, अस्तु**) ऐसे अधिपतिरूप महानायकों का सबको सम्मान करना चाहिए। ऐसे रक्षक और प्रेरक आप्त विद्वानों का भी अन्न, वस्त्र आदि से सम्मान करना चाहिए, जिससे वे लोग किसी भी प्रकार से दुःखी न हो पावें। ऐसे सभी नायक परस्पर संगठित होकर भी चलें, अन्यथा वे राष्ट्रोत्थान के अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पायेंगे। इसके लिए ऋग्वेद में कहा गया है— **'संगच्छध्वं संवदध्वम्'**

(**यः, अस्मान्, द्वेष्टि, यम्, वयम्, द्विष्मः, तम्, वः, जम्भे, दध्मः**) इन सभी नायकों से अगर कोई नागरिक द्वेष करता है अथवा इनमें परस्पर अथवा किसी अन्य नागरिक से यदि कोई द्वेषभाव होता है, तो उस द्वेषभाव को समदर्शी राजा की न्याय-व्यवस्था को समर्पित कर देना चाहिए, जिससे सम्पूर्ण द्वेष-भाव नष्ट होकर परस्पर प्रीति का वातावरण बना रह सके।

ओं दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो

नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ [अथर्ववेद 3.27.2]

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। इसके देवता इन्द्र एवं पितर हैं। इसका छन्द भी पूर्ववत् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [**इन्द्रः** = अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति। उच्चैर्धूमः परमया जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष (अग्निः) भवतीन्द्रः (श.2.3.2.11)। **पितरः** = ऊष्मभागा हि पितरः (तै.1.3.10.6) अनहतपाप्मानः पितरः (श.2.1.3.4)] इन्द्र तत्त्व अथवा धूम्र एवं ज्वालाओं से युक्त प्रचण्ड अग्नि एवं ऊष्मायुक्त कण आदि पदार्थ इस दिशा के सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त होने लगते हैं।

आधिदैविक भाष्य

(**दक्षिणा, दिक्, इन्द्रः, अधिपतिः, तिरश्चिराजि, रक्षिता, पितर, इषवः**) पूर्वोक्त विशाल कॉस्मिक मेघ के दक्षिणी भाग में इन्द्र तत्त्व की प्रबलता होती है और वह इन्द्र ही सभी क्रियाओं का नियामक वा सञ्चालक होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वचनानुसार यहाँ धूमयुक्त तीव्र वेगवान् प्रदीप्त अग्नि को ही विद्युत् कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि उस मेघ के दक्षिण भाग में धूमयुक्त तीव्र अग्नि प्रज्वलित होने लगता है और वहाँ विद्यमान पदार्थ तीव्र ऊष्मायुक्त होने के कारण पातक असुरादि पदार्थों से मुक्त हो रहा होता है और वे सभी ऊष्मायुक्त कण उस क्षेत्र में टेढ़ी-मेढ़ी अनियमित गतियों से युक्त हो रहे होते हैं। ये तिरछी गतियों से युक्त तीव्र वेगवान् कण इस क्षेत्र में इषु अर्थात् वज्र का कार्य करते हैं। इस कारण इनके तीव्र प्रवाहों से असुरादि बाधक रश्मियों से इस क्षेत्र के पदार्थ की रक्षा होती है। इसी कारण इनको रक्षक कहा गया है। इस विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं—

'यदग्निं यजति तस्माद् दक्षिणतोऽग्र' (ऐ.1.7)।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक भाष्य

(**दक्षिणा, दिक्, इन्द्रः, अधिपतिः, तिरश्चिराजिः, रक्षिता, पितर, इषवः**) अब साधक अपने मन को दक्षिण दिशा में ले जाता है। [**दक्षिणा** = दक्षिणो हस्तो, दक्षतेरुत्साहकर्मणः (नि.1.7)] प्रायः दक्षिण हाथ ही अधिक बलवान् भी होता है, जैसा कि ताण्ड्य महाब्राह्मण में कहा गया है— 'दक्षिणो वा अर्ध आत्मनो (शरीरस्य) वीर्यवत्तरः' (तां.5.1.13) उधर इन्द्र को बलपति कहा गया है। इस कारण दक्षिण दिशा में साधक इन्द्ररूप परमात्मा को अपना अधिपति अनुभव करता है। उसे वह परमात्मा परम ऐश्वर्यवान् होकर सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन करता हुआ प्रतीत होता है। [**पितरः** = प्राणो वै पिता (ऐ.2.38), पितरः प्रजापतिः (गो.उ.6.15)]

इस दिशा में वह सम्पूर्ण प्रजा के पालक प्राणतत्त्व, जिनकी तिरः गति होती है, को अपना रक्षक अनुभव करता है। इस प्रकार वह साधक बलपति इन्द्र द्वारा प्रेरित अव्यक्त गति करने वाले प्राण तत्त्व को अपना प्रेरक व रक्षक अनुभव करने लगता है। इस प्रकार वह दक्षिण दिशा से अपने शरीर में प्राणों के बल का संचार अनुभव होता हुआ भी अनुभव करता है। वह बलवत्तम इन्द्र परमात्मा को अनुभव करते हुए उसकी छत्र-छाया में स्वयं को अभय और सुरक्षित अनुभव करता है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आधिभौतिक भाष्य

(**दक्षिणा, दिक्, इन्द्रः, अधिपतिः, तिरश्चिराजिः, रक्षिता, पितर, इषवः**) [**दक्षिणा** = घोरा वा एषा दिग्दक्षिणा शान्ता इतराः (गो.

1.2.19)] यदि राष्ट्र के किसी भाग में अशान्ति एवं उपद्रव होने लगे, तब राजा को चाहिए कि इन्द्ररूप बनकर दण्डरूपी बल से स्थिति को नियन्त्रित करने का प्रयास करे। दण्ड के विषय में भगवान मनु का कथन है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ [मनुस्मृति 7.18]

ध्यातव्य है कि केवल दण्ड के बल पर राष्ट्र में फैली अशान्ति वा अराजकता दूर हो जाए, यह आवश्यक नहीं है। इसके लिए अन्य उपाय के रूप में पितर लोग गुप्त वा शान्त रूप से सबको ज्ञानोपदेश देवें, यह अनिवार्य है। यहाँ पितर से तात्पर्य असामाजिक तत्त्वों के माता-पिता, अन्य वयोवृद्ध सम्बन्धी जन और गुरुजन आदि के साथ-साथ धर्मोपदेशक, समाजसेवी, कृषक, सैनिक आदि सभी मिलकर उनके प्रेरक बनें, तभी राष्ट्र में स्थायी शान्ति व्यवस्था हो सकती है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

ओं प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

[अथर्व.3.27.3]

इसका मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। इसके देवता वरुण एवं पृदाकु-अन्नम् हैं। इसका छन्द अष्टि है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वरुण आदि पदार्थ, जिनकी व्याख्या मन्त्र के भाष्य में की जायेगी, तीव्र एवं व्यापक बलों से युक्त होने लगता है। साथ ही यह पदार्थ स्वयं भी दूर-दूर तक व्याप्त होने लगता है।

[**वरुणः** = वारुणो वै सोमः। (काठ.24.6; क.37.5), क्षत्रं वै वरुणः (श.2.5.2.6), क्षत्रं सोमः (ऐ.2.38)। **पृदाकुः** = पर्दते कुत्सितं शब्दं करोतीति पृदाकुः (उ.को. 3.80)]

आधिदैविक भाष्य

(**प्रतीची, दिक्, वरुणः, अधिपतिः, पृदाकुः, रक्षिता, अन्नम्, इषवः**) पूर्वोक्त खगोलीय विशाल मेघ की पश्चिमी दिशा में वरुण नामक पदार्थ अधिपति का कार्य करता है अर्थात् यह पदार्थ ही इस भाग का अधिनायक रूप होता है। यहाँ उपर्युक्त वचन 'वारुणो वै सोमः' इस बात का संकेत करता है कि वरुण नामक पदार्थ सोम नामक पदार्थ का ही कोई रूप है, जो तीव्र भेदक शक्ति से सम्पन्न होता है। इसके तीव्र बल ही इस क्षेत्र में सम्पन्न होने वाली सभी क्रियाओं को नियन्त्रित और संरक्षित करते हैं। विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण इषु अर्थात् वज्ररूप होते हैं, जो वरुण नामक पदार्थ से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के अनिष्ट पदार्थों को नष्ट करते रहते हैं। उनके इस गुण के कारण भी उन्हें इस क्षेत्र का रक्षक कहा गया है।

इन क्रियाओं में घोर शब्द करने वाले वरुण अर्थात् सोम के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— 'यत्सोमं यजति तस्मात् प्रतीच्योऽप्यापो बह्वयः स्यन्दन्ते सोमा ह्यापाः' (ऐ.ब्रा.1.7) यहाँ भी पश्चिम दिशा का सम्बन्ध सोम से दर्शाया है, जो कि यहाँ वरुण रूप में विद्यमान है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक भाष्य

(**प्रतीची, दिक्, वरुणः, अधिपतिः, पृदाकुः, रक्षिता, अन्नम्, इषवः**) तदुपरान्त साधक अपने मन को अपने पृष्ठ भाग में ले जाता है और

वहाँ वरुण अर्थात् वरण करने योग्य तथा अपने भक्तों का वरण करने वाले परमात्मा को विद्यमान अनुभव करता है। स्मरण रहे कि अनेक वस्तुओं में से एक वस्तु का वरण करते समय कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुसार सर्वश्रेष्ठ को ही चुनता है। इस कारण वह पृष्ठ भाग में विद्यमान सभी पदार्थों में परमात्मा का श्रेष्ठत्व अनुभव करता है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ वस्तु का वरण करके आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार पीछे की दिशा में वह उस परमात्मा का वरण करके आनन्द का अनुभव करता है। इसके साथ-साथ वह यह भी अनुभव करता है कि उस परमात्मा ने भी मेरा वरण कर लिया है और वही उसका नायक बना हुआ है।

[**अन्नम्** = अन्नं कस्मात्। आनतम्भूतेभ्यः, अत्तेर्वा। (नि.3.9) यहाँ 'पृदाकुः' पद का अर्थ 'पृदाकोर्नाशकः' अर्थात् कुत्सित विचारों व कुसंस्कारों को नष्ट करने वाला है।] वह परमात्मा अन्नरूप होकर अर्थात् जिस प्रकार अन्न को सभी प्राणी चाहते हैं और उसी की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार सभी विवेक-शील मनुष्य ईश्वर को ही प्राप्त करने का यत्न करते और उससे बल प्राप्त करते हैं। ऐसा वह परमात्मा पृदाकु अर्थात् कुत्सित विचारों व कुसंस्कारों को नष्ट करके उनसे रक्षा करता है। यहाँ अन्न की वरुण के साथ संगति है, क्योंकि क्षुधा से आतुर व्यक्ति अन्न का वरण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मुमुक्षु भी वरुण रूप परमात्मा का वरण करता है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः)** पूर्ववत्।

आधिभौतिक भाष्य

(**प्रतीची, दिक्, वरुणः, अधिपतिः, पृदाकुः, रक्षिता, अन्नम्, इषवः**) [**प्रतीची** = प्रतिकूलं वर्त्तमानाः (म.द.ऋ.भा.3.18.1)] जब कहीं राष्ट्र के नागरिक राष्ट्र के हितों के प्रतिकूल व्यवहार करने लगें, तब राजा को

चाहिए कि वह वरुणरूप होकर उनका आधिपत्य करे। इसका अर्थ यह है कि राजा के व्यवहार से वे प्रतिकूलगामी नागरिक ऐसा अनुभव करने लगें कि उनके लिए राजा का आदेश ही वरणीय है। इसके साथ ही उन नागरिकों का व्यवहार न सुधरने पर राजा उनको बन्धन में डाल दे अर्थात् कारागार में बन्द कर दे। इस कार्य में सहयोग के लिए [**पृदाकुः** = पृ (पालनम्) + दा (दानम्) + कुः (करोतीति) (प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार - अथर्ववेद भाष्यम्)] सबके पालक और राष्ट्र यज्ञ में धनादि का दान करने वाले वैश्य लोग भी प्रेरक और रक्षक होकर इस कार्य में राजा के सहायक बनते हैं। ध्यातव्य है कि किसी समस्या के समाधान के चार उपाय बताए गए हैं— साम, दान, दण्ड, भेद। इनमें से साम और दान सर्वोत्तम और सात्त्विक उपाय हैं। यदि राष्ट्र के व्यापारी, उद्योगपति व किसान समन्वित रूप से इस कार्य में राजा का सहयोग करें, तो कुमार्गगामी नागरिकों को सुमार्ग पर लाना कठिन नहीं होगा। इसका कारण यह है कि अभावग्रस्त एवं शोषित नागरिक भी कुमार्गगामी बन जाते हैं। किसी ने इसके लिए ठीक ही कहा है— 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

ओम् उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

[अथर्व.3.27.4]

इस मन्त्र का ऋषि और छन्द पूर्ववत् है। इसका देवता सोम और अशनि होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम नामक पदार्थ इस सम्पूर्ण क्षेत्र में अपने व्यापक बलों के साथ व्याप्त होने लगता है। इसके साथ ही इस क्षेत्र में विद्युत् की विशेष वृद्धि होती है अर्थात् इस दिशा में विभिन्न

प्रकार के विद्युदावेशित कण प्रभूत मात्रा में विद्यमान होते हैं।

आधिदैविक भाष्य

(उदीची, दिक्, सोमः, अधिपतिः, स्वजः, रक्षिता, अशनिः, इषवः) उस विशाल पिण्ड के उत्तरी भाग में सोम नामक पदार्थ अधिपति रूप होता है। [**सोमः** = सोमो वा इन्द्रः (श.2.2.3.23), द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सोमो राजा (ऐ.1.26), हविर्वै देवानां सोमः (श.3.5.3.2), सर्वं हि सोमः (श.5.5.4.11), वैराजः सोमः (कौ.9.6)] इसका अर्थ यह है कि इस सम्पूर्ण क्षेत्र में सोम पदार्थ भारी मात्रा में विद्यमान होता है। इसके कारण सोमपा इन्द्र अर्थात् तीव्र विद्युत् तरंगें विशेष रूप से ऋणावेशित तरंगें प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं। इसके साथ ही वैराज साम रूप 'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा'॥ (ऋग्वेद 7.22.1) छन्द रश्मि की भी वहाँ प्रधानता होती है, जिसके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व सोम पदार्थों को अवशोषित करके प्रबल होकर आवेशित कणों के मेघों का निर्माण करने लगता है। इस कारण इस क्षेत्र में इन्द्र रूप सोम पदार्थ अथवा सोमपा इन्द्र अधिपति का कार्य करता है। इस क्षेत्र में विद्युत् की तीव्र धाराएँ बह रही होती हैं। ये तीव्र धाराएँ ही यहाँ इषु अर्थात् वज्र रश्मियों का कार्य करती हैं। ये विद्युत् धाराएँ 'सु+अजः' अर्थात् अनिष्ट पदार्थों को अच्छी प्रकार से प्रक्षिप्त करने के सामर्थ्य एवं तीव्र गति से सम्पन्न होती हैं। इस कारण इनको यहाँ रक्षिता कहा गया है। महर्षि ऐतरेय महीदास का इस विषय में कथन है— 'सवितारं यजति। यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते'। (ऐ.1.7) यहाँ भी उत्तर दिशा का सम्बन्ध विद्युत् रूप सविता के साथ दर्शाया गया है।

(तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक भाष्य

(**उदीची, दिक्, सोमः, अधिपतिः, स्वजः, रक्षिता, अशनिः, इषवः**) तदनन्तर वह साधक अपने उत्तर भाग में अपने मन को ले जाता है। वह पूर्वोक्त तीन भागों में ईश्वर को विभिन्न रूपों में अनुभव करता हुआ उसके सोमस्वरूप को अनुभव करता है। सोम का अर्थ है— शान्तिदायक और जगत् को उत्पन्न व प्रेरित करने वाला। पृष्ठ भाग में सर्वश्रेष्ठ रूप वाले वरुणरूप परमात्मा को पाकर वह शान्ति का अनुभव करने लगता है। इसी कारण यहाँ सोमरूप परमात्मा की चर्चा है। उत्तर दिशा उत्कर्ष की दिशा भी मानी जा सकती है। जब साधक सृष्टि के उत्पादक व प्रेरक परमात्मा को अपनी साधना व जीवन के उत्कर्ष का अधिपति मान लेता है, तब उसके चित्त को एक विशेष शान्ति का अनुभव होने लगता है। यहाँ 'अशनिः' पद का अर्थ है— '**येनाश्नाति योऽश्नुते व्याप्नोति वा स अशनिः**' (उ.को.2.104) अर्थात् जो परमात्मा प्रलयकाल में सबको निगल जाता है तथा सर्वत्र सदैव विद्यमान रहता है, वह अशनि कहलाता है। यहाँ 'अशनिः' पद का विशेषण 'स्वजः' दिया है, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक अर्थ है- 'सु+अजः' अर्थात् अच्छी प्रकार गमन करने वाला और हमारे दुःखों और दुर्गुणों को दूर फेंकने वाला।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या ईश्वर गति करता है? नहीं, वह सर्वव्यापक होने से उसे गति करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सर्वत्र पहले ही पहुँचा हुआ होता है, इसलिए उसे 'मनसो जवीयः' कहा है। 'स्वजः' का दूसरा अर्थ होता है- 'स्व+जः' अर्थात् स्वयम्भू। इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञान, बल, क्रिया आदि की दृष्टि से किसी की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि यह उसके अन्दर स्वयं ही उत्पन्न हुआ होता है। इसलिए उपनिषत्कार ने कहा है— **स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** (श्वेता.) ऐसा स्वयम्भू, अनन्त स्वाभाविक शक्तियों से सम्पन्न, सर्वव्यापक एवं दुःखों व दुगुणों को दूर करने वाला परमात्मा साधक को अपनी उत्तर अर्थात् उत्कर्ष की दिशा में रक्षक

प्रतीत होता है। इस कारण वह इस दिशा में अपने सम्पूर्ण दुरितों को दूर होता हुआ अनुभव करता है। वह इस दिशा में ध्यान करता हुआ अपने चित्त के दोषों को खोज-खोजकर बाहर निकालता और उन्हें दूर जाता हुआ अनुभव करते हुए चित्तशुद्धि का अनुभव करता है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आधिभौतिक भाष्य

(**उदीची, दिक्, सोमः, अधिपतिः, स्वजः, रक्षिता, अशनिः, इषवः**) [**उदीची** = एषा (उदीची) वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक् (तै.2.1.3.5)] राष्ट्र के जो नागरिक शान्तिप्रिय और यशस्वी होते हैं, उनके साथ राजा सोमरूप व्यवहार करे अर्थात् उनको शान्तिप्रिय वचनों से राष्ट्र के विकास में योगदान के लिए उद्यत करे। ऐसा न होने पर राजा उनका अधिपति रूप होकर न्यायपूर्ण कर आदि के द्वारा उनका सहयोग ले। इस कार्य में राजा के साथ-साथ राष्ट्र की प्रगति में निरन्तर गतिशील अर्थात् उद्योगी 'अशनि' अर्थात् विद्युत् आदि विद्याओं के ज्ञाता उन नागरिकों को प्रेरित करें। वे न केवल राष्ट्र के विकास के लिए, अपितु स्वयं की विद्या आदि के विकास के लिए भी उन्हें प्रेरित करें।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ [अथर्व.3.27.5]

इसका ऋषि और छन्द पूर्ववत् है तथा देवता विष्णु एवं वीरुध हैं। [**विष्णुः** = यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा, व्यश्नोतेर्वा (नि.12.18), व्याप्तुशीलं विद्युद्रूपाग्निः (तु.म.द.य.भा.12.5), यज्ञो वै विष्णुः (श.1.9.3.9)। **वीरुध** = वीरुध ओषधयो भवति। विरोहणात् (नि.6.3), **ओषधिः** = अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.3.2.5.7), ओषधयो बर्हिः (ऐ.5.28), ओषधयः खलु वै वाजः (तै.1.3.7.1)] इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विद्युत् और वज्र रश्मियों का प्रभाव अति व्यापक होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य

(**ध्रुवा, दिक्, विष्णुः, अधिपतिः, कल्माषग्रीवः, रक्षिता, वीरुधः, इषवः**) [अहर्वै ध्रुवम् (जै.3.58)] उस विशाल मेघ के केन्द्रीय भाग में विष्णु अधिपति रूप होता है। इसका अर्थ है कि विद्युत् रूप अग्नि विशाल मेघ के अन्दर प्रविष्ट होकर विविध प्रकार से व्याप्त होने लगता है। इसके कारण ही उस क्षेत्र में विद्यमान कण वा रश्मियाँ परस्पर संयोग कर पाते हैं। विद्युत् ही किसी भी तारे के केन्द्रीय भाग में होने वाली संलयन आदि क्रियाओं को नियन्त्रित करती है, इसी कारण विद्युत् रूपी विष्णु को ध्रुव दिशा का अधिपति कहा गया है।

यहाँ वीरुध रश्मियाँ इषु अर्थात् वज्र रश्मियों का कार्य करती हैं। वे मरुत् रश्मियाँ, जो उत्तेजित व सम्पीडित होकर ऊष्मा को उत्पन्न करने में सक्षम होती हैं, वीरुध कहलाती हैं। विशेष एवं विविध रूप से उत्पन्न वा प्रकट होने वाली ये ओषधि संज्ञक प्राण व मरुत् आदि रश्मियाँ नाना प्रकार के देव कणों को असुरादि बाधक पदार्थों से पार लगाने वाली होती हैं और उनको यजन कर्मों में भी पार लगाती हैं।

[**कल्माषः** = श्वेतकृष्णवर्णः (पशुः) (म.द.य.भा.29.58), **ग्रीवा** = ग्रीवा गिरतेर्वा (नि.2.28)] इसके साथ ही वे पशु संज्ञक मरुत् एवं प्राण रश्मियाँ

असुर आदि बाधक रश्मियों को निगलकर वा अवशोषित करके नष्ट कर देती हैं, इस कारण इनको रक्षिता कहा गया है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक भाष्य

(**ध्रुवा, दिक्, विष्णुः, अधिपतिः, कल्माषग्रीवः, रक्षिता, वीरुधः, इषवः**) तदुपरान्त वह साधक अपने मन को ध्रुवा दिशा अर्थात् अपने आधार की ओर ले जाता है। [**ध्रुवम्** = निश्चलं सुखम् (म.द.य.भा.1.17), निश्चलो निश्चलकर्त्ता (म.द.य.भा.5.30), अखण्डितानि (म.द.ऋ.भा.3.56.1)] यहाँ वह सबके आधार, निश्चल व अखण्डस्वरूप परमात्मा को विष्णुरूप में अपना अधिपति अनुभव करता है।

विष्णु का अर्थ है- 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः' (उ.को.6.3), 'सर्वाऽन्तःप्रविष्ट' (जगदीश्वर) (म.द.य.भा.5.19) अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त होने वाला। परमात्मा को कण-कण में विद्यमान अनुभव करके वह निश्चल सुख की अनुभूति करने लगता है।

यहाँ 'वीरुधः' पद के विषय में कहा है- 'वीरुध ओषधयो भवन्ति' (नि.6.3), 'ओषधिव्यापिन् (ईश्वरः)' (म.द.ऋ.भा.1.87.10), 'दोषं धयन्तीति वा' (नि.9.27) [**कल्माषः** = कल्मषः (यह छान्दस प्रयोग है), कल्माषग्रीवः = दोषों को निगलने वाला] अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा की प्रेरणा व सानिध्य से वह साधक अपने दोषों से स्वयं को दूर होने का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार वह दोषों को पीने वा नष्ट करने वाले परमपिता परमात्मा को अपना रक्षक अनुभव करता है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आधिभौतिक भाष्य

(**ध्रुवा, दिक्, विष्णुः, अधिपतिः, कल्माषग्रीवः, रक्षिता, वीरुधः, इषवः**) राजा राष्ट्र के ध्रुव [**ध्रुवम्** = धर्मग्रहणेऽधर्मत्यागे च दृढोत्साहः (म.द.य.भा.27.39)] अर्थात् धर्म को ग्रहण करने व अधर्म का त्याग करने में दृढ़ उत्साही विद्वानों का सम्मान व सहयोग करे और उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे। वह विष्णुरूप बनकर सदैव विद्वानों को संगठित करने का प्रयास भी करे।

ऐसे विद्वानों के लोकोपकारक कार्यों में जो दुष्ट व पापी जन बाधा उत्पन्न करते हैं, उनको राष्ट्र में स्थान-2 पर व्याप्त राजा के सैनिक शस्त्रों की सहायता से बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दें और इस प्रकार विद्वज्जनों की रक्षा करें।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

ओम् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

[अथर्व. 3.27.6]

इसका ऋषि और छन्द पूर्ववत् है तथा देवता बृहस्पति एवं वर्ष हैं। [**बृहस्पतिः** = बृहतां पालकः सूत्रात्मा (म.द.य.भा.39.6), वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पति (माश.14.4.1.22), **वर्षा** = वर्षा वै सर्वऽऋतवः (श.2.2.3.7), बार्हस्पत्यमुपसन्नमग्नेः (ऐ.5.26), **उपसदः** = इमे लोका उपसदः (श.10.2.5.8), तपो ह्युपसदः (श.3.6.2.11), वज्रा वा ऽउपसदः (श.10.2.5.2), ऋतव उपसदः (श.10.2.5.7)] इसके दैवत एवं छान्दस

प्रभाव से सूत्रात्मा वायु एवं ऋतु रश्मियाँ सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त होकर संघनन प्रक्रिया को तीव्र करती हैं।

(ऊर्ध्वा, दिक्, बृहस्पतिः, अधिपतिः, श्वित्रः, रक्षिता, वर्षम्, इषवः) उस विशाल मेघ के ऊर्ध्व अर्थात् बाहरी भाग में बृहस्पति अधिपति रूप होता है। इसका अर्थ है कि सूत्रात्मा वायु विभिन्न रश्मियों के द्वारा विशाल मेघों को धारण करता है। बृहती रश्मि, जो तारों की परिधि का निर्माण करती है, उसका पालक भी यही सूत्रात्मा वायु होता है, इसीलिए इसे ऊर्ध्व दिशा का अधिपति कहा है।

यहाँ वर्ष रश्मियाँ इषु अर्थात् वज्र रश्मियों का कार्य करती हैं। 'वर्षम्' पद के 'वृषु सेचने हिंसासंक्लेशनयोश्च' धातु से निष्पन्न होने के कारण यह संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ तारे की निर्माण प्रक्रिया में बाधक बनी असुर रश्मियों को नष्ट करने का कार्य करती हैं। इसके साथ ही वज्ररूपी रश्मियाँ विशेष समृद्ध होकर निर्माणाधीन लोकों के ताप को बढ़ाती हैं तथा ऋतु रश्मियाँ समृद्ध होकर पदार्थ के सम्पीडन व संघनन को समृद्ध करती हैं। सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी विशेष समृद्ध और सक्रिय होती हुई सम्पूर्ण पदार्थ में संगमन, सम्पीडन वा संघनन कर्मों को तीव्र करती हैं। इसके साथ ही विद्युदग्नि और सभी प्राण रश्मियाँ भी अति सक्रिय होकर बिखरे हुए पदार्थ को निर्माणाधीन द्युलोकों के केन्द्रीय भाग की ओर तीव्रता से आकृष्ट करती हैं।

यहाँ 'श्वित्रः' [स्विदा स्नेहनमोचनयोः, स्विदा अव्यक्ते शब्दे एवं श्विता वर्णे] पद का अभिप्राय यह है कि अव्यक्त शब्द करती हुई इन ऋतु रश्मियों की तारों के ऊपर निरन्तर वृष्टि होती रहती है। इसके साथ ही ये रश्मियाँ तारों से अनिष्ट पदार्थ को बाहर निकालने में भी अपनी अहम भूमिका निभाती हैं, इसी कारण इन्हें इस क्षेत्र का रक्षक कहा है। यहाँ 'स्विदा' धातु

के 'स्' को 'श्' होना छान्दस प्रयोग मानना चाहिए।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

आध्यात्मिक भाष्य

(**ऊर्ध्वा, दिक्, बृहस्पतिः, अधिपतिः, श्वित्रः, रक्षिता, वर्षम्, इषवः**) अब वह साधक अपने मन को ऊर्ध्वा दिशा अर्थात् अपने ऊपर की ओर ले जाता है। यहाँ वह सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त परमात्मा को बृहस्पतिरूप में अपना अधिपति अनुभव करता है।

बृहस्पति का अर्थ है- 'बृहतो वचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः' (म.द.य.भा.14.25), 'बृहतः पापाद्वियोजकः' (म.द.ऋ.भा.2.23.7) अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानविज्ञान व ब्रह्माण्ड के पालक परमात्मा को वह अपने ऊपर की दिशा में अनुभव करता है। इसके साथ ही वह साधक सृष्टि के पालक परमात्मा के सानिध्य से पापों को स्वयं से वियुक्त होते हुए भी अनुभव करता है।

यहाँ 'वर्षम्' पद के विषय में महर्षि दयानन्द कहते हैं- 'यज्ञकर्मणा सर्वसुखसेचक' (म.द.य.भा. 6.11) अर्थात् सृष्टि संचालक व आनन्दवर्षक परमात्मा की प्रेरणा से वह मुमुक्षु जन्म-मरण के बन्धनों से स्वयं के मुक्त होने का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार वह सर्वविध सुखों के देने हारे परमपिता परमात्मा को अपना रक्षक अनुभव करता है।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

[साधक जब साधना करने के लिए बैठता है, तब पूर्वोक्त मन्त्रों से परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने के पश्चात् उस महान् ईश्वर से प्रार्थना करना प्रारम्भ करता है। प्रार्थना करते हुए वह साधक अपने भटकते हुए मन

को नियन्त्रित करने का बारम्बार प्रयास करता है। इसी क्रम में वह भिन्न-2 दिशाओं में ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते हुए नम्रीभूत होकर एक ही प्रार्थना को बार-2 करता है।]

आधिभौतिक भाष्य

(**ऊर्ध्वा, दिक्, बृहस्पतिः, अधिपतिः, श्वित्रः, रक्षिता, वर्षम्, इषवः**) राजा बृहस्पति रूप बनकर राष्ट्र के ऊर्ध्व [**ऊर्ध्वः** = उन्नतः राजकर्मचारिजनः] अर्थात् उच्च अधिकारी जनों का पालन एवं रक्षण करे। जब तक वे अधिकारी अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के प्रति निश्चिन्त नहीं होंगे, तब तक वे पूर्ण मनोयोग से अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन नहीं कर पायेंगे। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपने अधीनस्थ उच्चाधिकारियों की सुरक्षा एवं सुविधाओं का पूर्णरूप से ध्यान रखे।

उन अधिकारियों को भी चाहिए कि वे सभी एषणादि दोषों का सदैव त्याग करें, क्योंकि इससे राष्ट्र की अनेकविध हानि होने की आशंका रहती है और ऐसे अधिकारियों को विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा सहजतया राष्ट्रद्रोही भी बनाया जा सकता है। इस प्रकार वे अधिकारी इन दोषों का त्याग करके श्वित्ररूप होकर एवं राष्ट्र में सुखों की वृष्टि करने वाले होकर अन्य अधिकारियों के प्रेरक बनकर राष्ट्र रक्षा में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(**तेभ्यः, नमः ... जम्भे, दध्मः**) पूर्ववत्।

ये सभी मन्त्र साधक को जीवन में सजग रहने की प्रेरणा देते हैं। समाज कंटकों के उपद्रव को देखकर साधक अपनी साधना में लीन रहकर दुष्ट जनों की ओर से आँखें बन्द कर ले, ऐसा सोचना अवैदिक व अविवेक भरा विचार है। साधक सदैव सतर्कता के साथ दुष्टों व दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध

सम्पूर्ण बुद्धि व शक्ति के साथ डटा रहे और समाज को भी जाग्रत करता रहे, यही अपने ऋषि-मुनियों, देवों व वैदिक महापुरुषों का आदेश रहा है और वे भी ऐसा ही जीवन जीते थे। स्मरण रहे शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र व ब्रह्म साधना सम्भव हो पाती है।

उपस्थान-मन्त्राः

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ [यजुर्वेद 35.14]

इस मन्त्र का ऋषि 'देवाः' है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों से होती है अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों की विद्यमानता में ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता सूर्य एवं छन्द विराडनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक विविध प्रकार के बहुरंगी प्रकाश से युक्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य

(**वयम्, तमसः, परि, स्वः, पश्यन्तः, उत्तरम्, देवम्**) वयम् अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण रश्मियाँ अन्धकारयुक्त पदार्थ को उत्कृष्टता से पार किये हुए प्रकाशमान भाग को अथवा प्रकाशयुक्त पदार्थों को सब ओर से आकृष्ट करती हुई स्वर्गलोक अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर ले जाती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हमने 'दृश्' धातु का अर्थ 'आकृष्ट करना' कैसे लिया है? इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद 1.24.1 के भाष्य में 'दृशेयम्' पद का अर्थ 'इच्छां कुर्याम' किया है और इच्छा करना जड़ जगत् में आकर्षण करने के समान ही है। यहाँ स्पष्ट हो रहा

है कि सूर्य लोक के अन्दर जो-जो क्षेत्र तेजस्वी होते हैं, उन-उन क्षेत्रों से विभिन्न प्राण रश्मियाँ विभिन्न कणों को आकर्षित करती हुई केन्द्रीय भाग की ओर ले जाती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे सूर्यलोक गर्म होता जाता है, वैसे-वैसे इस प्रक्रिया की तीव्रता बढ़ती जाती है।

(**देवत्रा, सूर्यम्, उत्, अगन्म, ज्योतिः, उत्तमम्**) वह उपर्युक्त स्वर्ग लोक अर्थात् केन्द्रीय भाग कैसा होता है? इसके लिए कहा कि वह भाग सूर्य-स्वरूप होता है अर्थात् वह भाग नाना प्रकार के कणों और तरंगों को उत्पन्न करने वाला, सम्पूर्ण लोक को अपने आकर्षण से प्रेरित करने वाला और धीरे-धीरे अपने अक्ष पर घूर्णन करने वाला होता है। इसके साथ ही वह उत्तम ज्योतिरूप अर्थात् उत्कृष्ट तथा सम्पूर्ण सूर्य लोक की ज्योति का कारणरूप होता है। इस भाग को 'देवत्रा' इसलिए कहा गया है, क्योंकि इस भाग में सभी प्रकार के देव अर्थात् प्राण रश्मियाँ तथा नाना प्रकार के प्रकाशित कण भरे रहते हैं। ऐसे उस केन्द्रीय भाग को बाहरी विशाल भाग से आने वाले कण तीव्र वेग से प्राप्त करते हैं।

[मनसा परिक्रमा मन्त्रों के द्वारा साधक अपने मन को सभी दिशाओं में ले जाता हुआ सर्वत्र ईश्वर का ही अनुभव करता है और अति श्रद्धा से नम्रीभूत होकर अपने सभी दोषों के दूर होने की भावना करता हुआ पवित्रता का अनुभव करने लगता है। इसके पश्चात् वह उपस्थान मन्त्रों के द्वारा ईश्वर का और अधिक सामीप्य अनुभव करने लगता है।]

आध्यात्मिक भाष्य

(**वयम्, तमसः, परि, स्वः, पश्यन्तः, उत्तरम्**) हम साधक लोग अज्ञानान्धकार से सर्वथा परे ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप परमात्मा को अपने चारों ओर देखते हुए अर्थात् अपने सब ओर उसी परमात्मा का अनुभव करते हुए

(**देवम्, देवत्रा, सूर्यम्, उत्, अगन्म, ज्योतिः, उत्तमम्**) हम साधक गण सभी प्रकाशित पदार्थों में सर्वाधिक तेजस्वी, सभी देने वालों में सबसे बड़ेदाता एवं सभी ज्ञान वालों में सर्वाधिक ज्ञानी, सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यरूप अर्थात् सबको ज्ञान का प्रकाश देने वाले, सबके अन्तःकरण में सत्कर्मों की प्रेरणा देने वाले, सबके उत्पादक परब्रह्म परमात्मा को उत्कृष्टता से जानते व प्राप्त करते हैं।

इस मन्त्र पर चिन्तन करते समय साधक मन्त्रानुसार ऐसे ज्योतिस्वरूप परमात्मा को अपने चारों ओर अनुभव करने लगता है।

आधिभौतिक भाष्य

(**वयम्, तमसः, परि, स्वः, पश्यन्तः, उत्तरम्**) हम मनुष्य लोग अपने उत्थान के लिए अथवा राष्ट्र निर्माण के लिए अज्ञान व दुरितों के अन्धकार से पार लगाने में समर्थ, निर्मल चरित्र व विज्ञान से युक्त विद्वान् वा राजा को सब ओर ढूँढते हुए।

(**देवम्, देवत्रा, सूर्य्यम्, उत्, अगन्म, ज्योतिः, उत्तरम्**) विभिन्न देवपुरुषों अर्थात् सत्त्वगुण सम्पन्न विद्वानों में से सूर्य के समान सर्वोत्तम देवपुरुष को अच्छी प्रकार प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—

मनुष्य को चाहिए कि अपने जीवन के उत्थान के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक गुरु को खोजने के लिए अनेक विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ का ही चयन करे। इसी प्रकार राष्ट्र के नागरिकों को चाहिए कि अपने राजा का चयन करते समय भी सर्वोत्तम विद्वान् और सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष का ही चयन करें। ऐसे गुरु और राजा ही अज्ञान और दुरितों से पार लगा सकते हैं।

साधक को चाहिए कि वह सदा गुणी व्यक्तियों का सम्मान करता रहे और अवगुणी व्यक्तियों से दूर रहे।

ओम् उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यम्॥ [यजु.33.31]

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों के विशेष स्वरूप से होती है। इसका देवता सूर्य और छन्द निचृद् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य लोक तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य

(**उत्, उ, त्यम्, जातवेदसम्, देवम्, वहन्ति, केतवः, दृशे, विश्वाय, सूर्यम्**) [**केतुः** = प्रज्ञानाम (निघं. 3.9), केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा (नि.11.27), केतवः रश्मयः (नि.12.15)। **जातवेदः** = तद् यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः (श.9.5.1.68)] सभी लोक आदि पदार्थों में अपने गुरुत्वीय बल एवं प्रकाश, ऊष्मा आदि के रूप में विद्यमान सबके प्रकाशक उस सूर्यलोक को सबको दर्शाने के लिए उसके प्रकाश की किरणें ऊपर की ओर अर्थात् सूर्य लोक के बाहर दूर-दूर तक व्याप्त अन्तरिक्ष में निश्चित रूप से व्याप्त होने लगती हैं।

भावार्थ—

सूर्य लोक जब भी उत्पन्न होता है, तभी से वह अपने मण्डल के ग्रह आदि लोकों को अपने आकर्षण बल के द्वारा बाँधने और अपने चारों ओर परिक्रमण कराने लग जाता है। इसके साथ ही वह तभी से उन लोकों को ऊष्मा और प्रकाश भी देने लगता है। उस सूर्यलोक से जो भी गुरुत्वीय तरंगें

अन्तरिक्ष में जाती हैं, तो वे वहाँ विद्यमान सभी लोक आदि पदार्थों को प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार सूर्य से निकलने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें भी सभी पदार्थों को प्रकाश व उष्णता प्रदान करती हैं। इन गुरुत्वीय तरंगों के अभाव में कोई भी लोक आदि पदार्थ सूर्य के अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकता और न ही उसकी ओर आकृष्ट होकर परिक्रमण कर सकता। उधर सूर्य से आने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अभाव में न सूर्य लोक दिखाई दे सकता है और न उष्णता का ही अनुभव कर सकता है।

आध्यात्मिक भाष्य

(**उत्, उ, त्यम्, जातवेदसम्, देवम्, वहन्ति, केतवः, दृशे, विश्वाय, सूर्यम्**) उस सबके उत्पादक, प्रेरक और सबको गति देने वाले सूर्यरूपी, प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ में विद्यमान एवं सभी मनुष्यों को सृष्टि के आदि में ज्ञान देने वाले देव अर्थात् सृष्टि को सहजतया उत्पन्न करने वाले, सब सुखों के दाता परमात्म देव को सबको दिखाने के लिए अर्थात् उस ब्रह्म का अनुभव कराने के लिए सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उसी की क्रिया और विज्ञान उत्कृष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सभी पदार्थ ईश्वर के ज्ञान और कर्म को दर्शाते हुए उसकी सत्ता का साक्षात् बोध कराते हैं। इन्हीं कर्मों को देखकर मनुष्य भी अनेक प्रकार के कर्मों को करने की प्रेरणा लेता है। इसलिए कहा गया है—

'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे'

अर्थात् उस सर्वव्यापक परमात्मा के विज्ञानपूर्वक किये जा रहे कर्मों को देखो और उससे अपने व्रतों अर्थात् कर्मों को करने की प्रेरणा प्राप्त करो।

इस मन्त्र के अर्थ पर विचार करते समय साधक अपने चारों ओर विद्यमान पृथिव्यादि ग्रहों, उपग्रहों, तारों, गैलेक्सियों और उनमें विद्यमान

प्राणियों के शरीरों और वनस्पति आदि स्थूल पदार्थों, अपने शरीर में विद्यमान अन्नमयादि पञ्चकोशों, अन्तःकरण व इन्द्रियों, सूक्ष्म जगत् में विभिन्न सूक्ष्म भूतों, प्राण व छन्दादि रश्मियों, महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म पदार्थों पर गहराई से चिन्तन करता हुआ और इनके अन्दर उस परम तत्त्व परमात्मा के विज्ञान और क्रिया-कौशल की अनुभूति करता हुआ इन सबको उस परमात्मा का बोध कराने वाली पताकाओं के रूप में ही अनुभव करके आनन्दातिरेक में निमग्न हो जाता है। उसे सृष्टि की प्रत्येक दृश्य वा अदृश्य वस्तु में परमात्म के ही अस्तित्व का बोध होता है।

आधिभौतिक भाष्य

(**उत्, उ, त्यम्, जातवेदसम्, देवम्, वहन्ति, केतवः, दृशे, विश्वाय, सूर्यम्**) [**जातवेदः** = जातप्रज्ञानबल (तेजस्विन् राजन्) (म.द.ऋ. भा.6.16.29), जातेषु जनेषु ज्ञानिन् विद्वान् (जन) (म.द.य.भा.19.39)] जब किसी राष्ट्र का राजा एवं समाज के आचार्य अपने भीतर ज्ञान, विज्ञान और बल को उत्पन्न करके सूर्य के समान तेजस्वी एवं दिव्यगुणों से युक्त मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वहन करते हैं, तब समस्त बुद्धिमती प्रजा को उस राजा वा विद्वान् के हितकारी स्वरूप को दर्शाने के लिए उसके हितकारी विधान व उपदेश सम्पूर्ण राष्ट्र व समाज में सर्वत्र प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—

जब किसी राष्ट्र का राजा विविध ज्ञान-विज्ञान व बलसम्पन्न होकर अपनी प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करता है, तब उसके पालन आदि कर्म और उसके बनाए हुए विधान के चिह्न सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। सम्पूर्ण प्रजा का सुखी, समृद्ध, स्वस्थ और संगठित रहना ही ऐसे प्रतीक है, जिनसे राजा के देवत्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार किसी आचार्य के ज्ञान और चरित्र के चिह्न उसके शिष्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। ध्यातव्य है कि यदि किसी राष्ट्र में

प्रजा नानाविध दुःखों से पीड़ित दिखाई दे, तब समझना चाहिए कि उस राष्ट्र का राजा धर्मात्मा नहीं है, क्योंकि ऐसे धर्मात्मा राजा के राज्य में प्रजा दुःखी भी नहीं हो सकती।

साधक की साधना तभी सफल मानी जा सकती है, जब उसके व्यवहार से सज्जन, दुर्बल व दुःखी लोग प्रसन्न रहें। जो बात-बात में परिवार व समाज में क्रोध-कलह करता रहे, सबको अपनी साधना का अहंकार दर्शाता रहे, वह साधक की पथभ्रष्टता का परिचायक है।

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षꣳ सूर्य्यऽ आत्मा
जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ [यजुर्वेद 7.42]

इस मन्त्र का ऋषि कुत्स है। [**कुत्स** = वज्रनाम (निघं.2.20), कुत्स एतत् कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति (नि.3.11)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी वज्र रश्मियों से होती है, जो नाना प्रकार के बाधक पदार्थों को नष्ट करती और नाना प्रकार की गायत्री रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। स्तोम के विषय में कहा गया है— 'गायत्रीमात्रो वै स्तोमः' (कौ.19.8)। इसका देवता सूर्य और छन्द भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य

(**चित्रम्, देवानाम्, उत्, अगात्, अनीकम्, चक्षुः, मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः**) वह सूर्यलोक विभिन्न देव पदार्थों का समूहरूप होकर अन्य सभी लोकों में श्रेष्ठ रूप में उत्कृष्टता से अपने प्रकाश द्वारा सबको व्याप्त

करता है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में सूर्यादि तेजस्वी लोक ही इन सबके प्रकाशित होने का कारण होते हैं। इन लोकों में प्रायः सभी प्रकार के देव पदार्थ विद्यमान होते हैं। ये लोक मित्र अर्थात् प्राण, वरुण अर्थात् अपान एवं उदान, अग्नि अर्थात विद्युत् आदि का चक्षु रूप होते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक से उसमें विद्यमान प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा विद्युत् आदि की उपस्थिति का बोध होता है। वस्तुतः इनकी उपस्थिति के बिना सूर्यलोक का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है, इसलिए सूर्यलोक को इनका चक्षु अर्थात् प्रकाशक कहा है।

(**आ, अप्राः, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्, सूर्यः, आत्मा, जगतः, तस्थुषः, च, स्वाहा**) वह सूर्यलोक अपनी किरणों की व्यापकता के द्वारा द्युलोक, सभी ग्रह-उपग्रह आदि लोक एवं अन्तरिक्ष को सब ओर से व्याप्त करता है। इस प्रकार वह सूर्य सभी जड़ और जङ्गम पदार्थों का आत्मा है। इसका अर्थ यह है कि वह सभी जड़ पदार्थों, वनस्पतियों एवं प्राणियों के शरीर को अपनी ऊर्जा के द्वारा निरन्तर व्याप्त करता है अर्थात् अपनी ऊर्जा के द्वारा उन सभी पदार्थों में अपनी उपस्थिति दर्शाता है।

आध्यात्मिक भाष्य

(**चित्रम्, देवानाम्, उत्, अगात्, अनीकम्, चक्षुः, मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः**) वह पूर्वोक्त परब्रह्म परमात्मा असंख्य देव अर्थात् महान् तेजस्वी लोकों के विचित्र वा आश्चर्यजनक विशाल समूह को उत्कृष्टता से व्याप्त करता है। यहाँ देव का अर्थ वे सूक्ष्म पदार्थ भी हैं, जो दीप्ति और बल आदि गुणों से युक्त होते हैं। उन सबमें भी वह परमेश्वर सदैव व्याप्त रहता है। [मित्रावरुणौ = द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम (तां.14.2.40)] वह ईश्वर मित्र और वरुण अर्थात् सभी प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों एवं अग्नि अर्थात् विद्युत् आदि का प्रकाशक होता है अर्थात् उसके बिना इस

ब्रह्माण्ड में कोई भी पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। वह ईश्वर समस्त प्रकाशकों का प्रकाशक है तथा सभी लोकों का आश्रय है।

(**आ, अप्राः, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्**) वह ईश्वर द्युलोक, पृथिवी लोक एवं अन्तरिक्ष लोक अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सम्पूर्ण रूप से भर रहा है अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त होकर सबका पालन और संचालन कर रहा है। इन सब लोकों में होने वाली सभी क्रियाएँ ईश्वर के बल से ही सम्पन्न होती हैं। वह सभी क्रियाओं का मुख्य हेतु है।

(**सूर्यः, आत्मा, जगतः, तस्थुषः, च, स्वाहा**) वह सबका प्रकाशक सूर्यरूप परमात्मा जगत् अर्थात् चलायमान पदार्थ और तस्थुषः अर्थात् स्थावर पदार्थ दोनों का आत्मारूप होकर उनमें व्याप्त होता है। वह जड़ और चेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थों में सदैव विद्यमान रहता है। [**स्वाहा** = वाङ्नाम (नि.1.11), अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.2.2.1.3)] वह ईश्वर अव्यक्त 'ओम्' रश्मियों के द्वारा अथवा उनके रूप में ही सम्पूर्ण सृष्टि-यज्ञ का संचालन करता है।

इस मन्त्र पर चिन्तन करते हुए साधक अपने चारों ओर विद्यमान ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक-लोकान्तर और सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों और तरंगों में होने वाली विभिन्न क्रियाओं की सूक्ष्म विवेचना करता हुआ उन सबके पीछे उस परब्रह्म के अपार सामर्थ्य का अनुभव करने लगता है। वह विभिन्न प्राणियों के शरीरों और वनस्पतियों के अन्दर होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं में भी उस ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करता है। इन सबमें वह ईश्वर के द्वारा स्पन्दित होती हुई सर्वाधिक सूक्ष्म 'ओम्' रश्मियों एवं उन 'ओम्' रश्मियों से स्पन्दित होती हुई असंख्य छन्द व प्राण रश्मियों के महान् व्यापार को अनुभव करता हुआ परमात्मा के द्वारा तरंगित वा स्पन्दित उस विशाल रश्मि जाल के मध्य स्वयं बैठा हुआ अनुभव करके अपार आनन्द का अनुभव करता है। इससे उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह अपने इष्ट परमपिता परमात्मा की पावन

गोद में बैठा हुआ है।

आधिभौतिक भाष्य

(**चित्रम्, देवानाम्, उत्, अगात्, अनीकम्, चक्षुः, मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः**) [**मित्रावरुणौ** = प्राणोदानविवाध्यापकाध्येतारौ (म.द.ऋ. भा.5.41.1) सूर्य के समान तेजस्वी महान् राजा विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ विद्वान् मन्त्रियों के विचित्र समूह के रूप में सम्पूर्ण राष्ट्र को व्याप्त करता है। यहाँ 'विचित्र' का आशय यह है कि राजा अपनी कुशलता और दूरदर्शिता से ऐसे मन्त्रिमण्डल का गठन करता है, जो न केवल सामान्य प्रजा, अपितु विद्वानों के लिए भी समझना दुष्कर होता है। वह राजा मित्र अर्थात् अध्यापकों, वरुण अर्थात् अध्येताओं एवं अग्नि अर्थात् सैन्य अधिकारियों एवं धर्माचार्यों का भी चक्षु अर्थात् मार्गदर्शक होता है। (**आ, अप्राः, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्**) ऐसा राजा पृथिवी व सूर्यादि लोकों के साथ-2 अन्तरिक्ष को अपने विज्ञान व क्रिया-कौशल के द्वारा अर्थात् लोक-लोकान्तरों में गमन करने वाले विमानों के द्वारा पूर्ण करता है अर्थात् उसका इन लोकों में गमनागमन सहज होता है। (**सूर्यः, आत्मा, जगतः, तस्थुषः, च, स्वाहा**) (**स्वाहा** = सत्यया क्रियया (ऋ.द.भा.)] वह सबका प्रेरक राजा राष्ट्र के सभी प्राणियों और वनस्पतियों में अपनी सत्य क्रियाओं के द्वारा आत्मारूप होकर विचरता है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्र के सभी प्राणी और वनस्पति राज्य की सुनीतियों के प्रकाश में ही फलीभूत वा आनन्दित हो पाते हैं। लोकप्रसिद्ध राम-राज्य इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। जिस राष्ट्र का राजा पापी होता है, उस राष्ट्र में कोई कभी सुखी नहीं रह सकता।

इसी प्रकार जो साधक अपने परिवार व समाज को अपने व्यवहार व आचरण से सुखी नहीं कर सकता, वह साधक साधक कहलाने योग्य नहीं होता। इसी प्रकार साधक को चाहिए कि वह अपने ज्ञान-विज्ञान से समाज व

राष्ट्र को उन्नत करने का भी निरन्तर प्रयास करता रहे। साधना का अर्थ ज्ञान, विज्ञान व क्रिया-कौशल से दूर भागना नहीं है, बल्कि सर्वहित में इसका पूर्ण निरापद उपयोग लेना ही कर्त्तव्य है। पुनरपि इससे मनुष्य विलासी कदापि न होने पावे, यह सुनिश्चित करना अनिवार्य है।

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

[यजुर्वेद 36.24]

इसका ऋषि आथर्वण दध्यङ् है। [**आथर्वण दध्यङ्** = वाग्वै दध्यङ् ङाथर्वणः (श.6.4.2.3)। **वाक्** = वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.1.28.; श.1.3.2.16)। **अथर्वा** = प्राणो वा अथर्वा (श.6.4.2.1)] इसका अर्थ यह है कि विभिन्न प्राण रश्मियों से उत्पन्न कुछ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता सूर्य और छन्द भुरिक् ब्राह्मी त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज और तीव्र विद्युत् चुम्बकीय बलों से समृद्ध होने लगता है।

(**तत्, चक्षुः, देवहितम्, पुरस्तात्, शुक्रम्, उत्, चरत्**) [शुक्रः = शुक्रं हिरण्यम् (तै.ब्रा.1.7.6.3), ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम् (ऐ.7.12)] विभिन्न देव पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करने वाला, सुवर्णसम तीव्र प्रकाशयुक्त, अन्य लोकों को प्रकाशित करने वाला वह सूर्यलोक अपने निर्माण के पूर्ण होने से पूर्व ही पूर्व दिशा की ओर उत्कृष्टता से गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि ग्रहों और सूर्यलोक के मध्य दूरी बढ़ने लगती है, इसे ही सूर्यलोक का

ऊपर उठना भी कहा जाता है।

(**पश्येम, शरदः, शतम्**) [**शरत्** = शृणाति येन सा (ऋतुः) (म.द.य.भा. 13.57), स्वधा वै शरद् (श.13.8.1.4), शरत् प्रतिहारः (ष.3.1), यद् विद्योतते तच्छरदः(रूपम्) (श.2.2.3.8), अन्नं वै शरद् (मै.1.6.9)।] इस समय इस छन्द रश्मि की कारणरूप विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूर्य लोक के अन्दर एक-2 सौ शरद् रश्मियों को प्रभावित वा आकृष्ट करने लगती हैं। ये शरद् रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक असुरादि अनिष्ट पदार्थों को नष्ट करके विभिन्न ऋतु रश्मियों की प्रहरी बनकर विभिन्न कण आदि पदार्थों को नाना प्रकार से प्रकाशित करने लगती हैं। ये शरद् रश्मियाँ स्वधारूप होकर और विद्युत् को धारण करने वाली होकर संयोगादि कर्मों को समृद्ध करती हैं।

(**जीवेम, शरदः, शतम्**) ये ऋषिरूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन सौ-सौ शरत् ऋतु रश्मियों को नाना प्रकार से प्राणादि प्राथमिक प्राणों के साथ संयुक्त करने लगती हैं, विशेषकर प्राण, अपान और व्यान रश्मियों के साथ। इसका कारण यह है कि इन तीनों ही प्राण रश्मियों की तारों के केन्द्रीय भाग में होने वाली संलयन क्रियाओं में विशेष भूमिका होती है। यहाँ 'जीवेम' क्रियापद यह दर्शाता है कि प्राण रश्मियों के साथ शरद् रश्मियों के साथ-साथ इन ऋषिरूप छन्द रश्मियों की भी संगति होती है। इस प्रकार इन तीनों का मिश्रण होकर पदार्थ के संलयन की क्रिया तीव्र होने लगती है।

(**शृणुयाम, शरदः, शतम्**) वे ऋषिरूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन एक-एक सौ शरत् रश्मियों का अनुकरण करती हुई उनकी ओर गमन करती हैं, जिसके कारण उन शरत् रश्मियों के साथ-साथ अन्य सभी रश्मियाँ अधिक प्रभावी होकर विभिन्न संयोगादि कर्मों को समृद्ध करने लगती हैं। यहाँ 'शृणुयाम' क्रियापद का अर्थ अनुकरण करना एवं गमन करना ग्रहण किया है।

(**प्रब्रवाम, शरदः, शतम्**) ये ऋषिरूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन सैकड़ों

शरत् रश्मियों को अनेक प्रकार से प्रेरित करती रहती हैं। इस प्रेरणा के लिए वे अनुष्टुप् रश्मियाँ अन्य अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों को या तो प्रेरित करती हैं अथवा उत्पन्न भी करती हैं। ध्यातव्य है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ जब किन्हीं छन्द रश्मियों के सम्पर्क में आती हैं, तो उनके प्रभाव को बढ़ा देती हैं। यही प्रक्रिया यहाँ भी होती है।

(**अदीनाः, स्याम, शरदः, शतम्**) वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन सौ-2 शरद् रश्मियों के साथ [**दीनः** = दीयते क्षीणो भवतीति दीनः (उ.को. 3.2)] कभी क्षीणता को प्राप्त नहीं होती। विभिन्न अनिष्ट रश्मियों अथवा अन्य किसी कारण से उन पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ तारों के केन्द्रीय भाग में अन्य छन्द रश्मियों को प्रेरित करने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(**भूयः, च, शरदः, शतात्**) इन सभी पदों की संगति सम्पूर्ण मन्त्र में लगती है। एक ऋषिरूप अनुष्टुप् रश्मि एक सौ शरद् रश्मियों से भी अधिक रश्मियों के साथ संयुक्त हो सकती है। यहाँ एक सौ की संख्या न्यूनतम सीमा है।

आध्यात्मिक भाष्य

यह भाष्य हम ऋषि दयानन्दकृत ही ग्रहण कर रहे हैं, जो इस प्रकार है-

पदार्थ—

(तत्) चेतनं ब्रह्म (चक्षुः) चक्षुरिव सर्वदर्शकम् (देवहितम्) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हितकारि (पुरस्तात्) पूर्वकालात् (शुक्रम्) शुद्धम् (उत्) (चरत्) चरति सर्वं जानाति (पश्येम) (शरदः) (शतम्) (जीवेम) प्राणान् धारयेम (शरदः) (शतम्) (शृणुयाम) शास्त्राणि मङ्गलवचनानि चेति शेषः (शरदः) (शतम्) (प्र, ब्रवाम) अध्यापयेमोपदिशेम वा (शरदः) (शतम्) (अदीनाः)

दीनतारहिताः (स्याम) भवेम (शरदः) (शतम्) (भूयः) अधिकम् (च) पुनः (शरदः) (शतात्)॥

भावार्थ—

हे परमेश्वर! भवत्कृपया भवद्विज्ञातेन भवत्सृष्टिं पश्यन्त उपयु-ञ्जानाऽरोगाः समाहिताः सन्तो वयं सकलेन्द्रियैर्युक्ताः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं जीवेम सत्यशास्त्राणि भवद्गुणांश्च शृणुयाम वेदादीनध्यापयेम सत्यमुपदिशेम कदाचित्केनापि वस्तुना विना पराधीना न भवेम सदैवमात्मवशाः सन्तः सततमानन्देमान्यांश्चानन्दयेमेति॥

पदार्थ—

हे परमेश्वर! आप जो (देवहितम्) विद्वानों के लिये हितकारी (शुक्रम्) शुद्ध (चक्षुः) नेत्र के तुल्य सबके दिखाने वाले (पुरस्तात्) पूर्वकाल अर्थात् अनादि काल से (उत्, चरत्) उत्कृष्टता के साथ सबके ज्ञाता हैं (तत्) उस चेतन ब्रह्म आपको (शतम्, शरदः) सौ वर्ष तक (पश्येम) देखें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) प्राणों को धारण करें, जीवें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (शृणुयाम) शास्त्रों वा मङ्गल वचनों को सुनें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (प्रब्रवाम) पढ़ावें वा उपदेश करें (शतम्, शरदः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (अदीनाः) दीनतारहित (स्याम) हों (च) और (शतात्, शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक भी देखें, जीवें, सुनें, पढ़ें, उपदेश करें और अदीन रहें।

भावार्थ —

हे परमेश्वर! आपकी कृपा और आपके विज्ञान से आपकी रचना को देखते हुए आपके साथ युक्त नीरोग और सावधान हुए हम लोग समस्त इन्द्रियों से युक्त सौ वर्ष से भी अधिक जीवें, सत्य शास्त्रों और आपके गुणों को सुनें, वेदादि को पढ़ावें, सत्य का उपदेश करें, कभी किसी वस्तु के विना पराधीन

न हों, सदैव स्वतन्त्र हुए निरन्तर आनन्द भोगें और दूसरों को आनन्दित करें।

इस मन्त्र पर विचार करते समय साधक को ऐसा विचार करना चाहिए कि ईश्वर के सानिध्य को प्राप्त करके उसकी देखने, बोलने और सुनने की क्षमता में वृद्धि होने के साथ-2 उसको आरोग्यता व दीर्घायुष्य की प्राप्ति हो रही है। वह अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग में शक्ति को प्रवाहित होता हुआ अनुभव करे।

आधिभौतिक भाष्य

(**तत्, चक्षुः, देवहितम्, पुरस्तात्, शुक्रम्, उत्, चरत्**) देव अर्थात् विद्वानों, दिव्यगुण सम्पन्न आध्यात्मिक जनों का सदैव हितैषी व्यक्ति ही राजा होने का अधिकारी है। वह ऐसा राजा सम्पूर्ण प्रजा का सहज सुलभ मार्गदर्शक होता है। [यहाँ 'पुरस्तात्' पद के साथ 'सहजसुलभम्' पद का अध्याहार करना चाहिए।] वह राजा शुक्र अर्थात् शुद्धान्तःकरण युक्त एवं प्रजा को शीघ्र न्याय दिलाने वाला और अपनी प्रजा के सभी सुख, दुःख व व्यवहार और उनके हित-अहित को उत्कृष्टता से जानता है। [**उच्चरत्** = चरति सर्वं जानाति (ऋ.द.य.भा.)] ऐसे उस महान् राजा को (**पश्येम, शरदः, शतम्**) हम सौ वर्ष तक देखते रहें। (**जीवेम, शरदः, शतम्**) उसके सुखद साम्राज्य में हम सौ वर्ष तक जीवें। (**शृणुयाम, शरदः, शतम्**) सौ वर्ष तक वेदादि सत्य शास्त्रों को सुनते रहें। (**प्रब्रवाम, शरदः, शतम्**) सौ वर्ष तक इन शास्त्रों का उपदेश करके अज्ञानान्धकार को मिटाते रहें। (**अदीनाः, स्याम, शरदः, शतम्**) सौ वर्ष तक अपने राष्ट्र में स्वतन्त्रता व स्वाभिमान के साथ रह सकें और कभी भी किसी भी प्रकार से क्षीणता को प्राप्त न होवें। (**भूयः, च, शरदः, शतात्**) उस राजा के राज्य में न केवल सौ वर्ष, अपितु उससे भी अधिक उपर्युक्त सभी कर्म करने वाले हो सकें।

यहाँ इस भाष्य से दो संकेत मिलते हैं, जिनमें से प्रथम यह है कि वह राजा सौ वर्ष से भी अधिक शासन करने वाला होवे। दूसरा यह है कि उसके प्रजाजन भी सौ वर्ष से अधिक स्वस्थ व सुखी रहकर विद्या आदि शुभ गुणों से विभूषित बने रहें।

साधक को चाहिए कि स्वयं को पूर्ण स्वस्थ व बलवान् बनाने हेतु निरन्तर उचित आहार, ब्रह्मचर्य पालन आदि को सिद्ध करने का प्रयास करे। इसी प्रकार परिवार व समाज में भी ऐसा ही करने की निरन्तर प्रेरणा करे।

गायत्री-मन्त्रः

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [यजु.36.3]

इसकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है। तदनुसार यहाँ भी पूर्वापेक्षा और अधिक गम्भीरता से चिन्तन करे। इस मन्त्र का मानसिक जप करते हुए, जितनी अधिक देर तक बैठ सके, एकाग्र मन से बैठा रहे। इससे साधक को विशेष आनन्द एवं अन्तःकरण की पवित्रता का विशेष अनुभव होने लगेगा।

समर्पणम्

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

गायत्री मन्त्र के पश्चात् साधक भावविभोर होकर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है। वह अपने आराध्य परब्रह्म परमात्मा से आर्त्त स्वर में प्रार्थना करने लगता है कि हे दयामय ईश्वर! आपके इस जप एवं संध्योपासना आदि कर्मों से मुझे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि इसी समय अर्थात् तुरन्त प्राप्त हो जाये। मेरा जीवन इसी समय से पूर्णतः धर्ममय हो जाये, मैं कभी अधर्म के पथ पर चलने का विचार भी न करूँ। मेरे जीवन में कभी किसी वाञ्छित वस्तु का अभाव न रहे। मेरी सभी कामनाएँ पवित्र एवं पूर्ण होवें और अन्त में मुझे आपकी अमृतमयी गोद प्राप्त हो सके, जिससे मैं सदैव परमानन्द में रह सकूँ।

नमस्कार-मन्त्रः

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

[यजुर्वेद 16.41]

इसका ऋषि परमेष्ठी प्रजापति एवं देवाः है। [**परमेष्ठी** = आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी, ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति (श.8.2.3.13)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न तन्मात्राओं (कणों व विकिरणों) से उत्सर्जित वा स्पन्दित होने वाली प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता रुद्र और छन्द स्वराडार्षी बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण विद्युदग्नि पदार्थ को तेजी से संघनित करने लगता है अथवा विभिन्न कणों को परस्पर तेजी से संयुक्त करने लगता है।

आधिदैविक भाष्य

(**नमः, शम्भवाय, च, मयोभवाय, च**) [यहाँ 'च' निपात पादपूर्ति के लिए है।] ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी यजन क्रियाएँ होती हैं, एक कण के

द्वारा किसी दूसरे कण का अवशोषण किया जाता है, वहाँ उस परिस्थिति के अनुकूल वज्र रश्मियाँ उत्पन्न होकर इन क्रियाओं को सुगमता और सन्तुलन के साथ सम्पन्न कराती हैं। इन क्रियाओं में विक्षोभ नहीं होता, बल्कि सहजतया क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं।

(**नमः, शङ्कराय, च, मयस्कराय, च**) यहाँ 'नमः' पद का अर्थ यज्ञ है अर्थात् ये यजन क्रियाएँ उन दोनों ही संयुक्त कणों के लिए सन्तुलन एवं सहज स्थिति उत्पन्न करने वाली होती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब दो कण परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, तो वे पूर्वापेक्षा सन्तुलन व सहजता की स्थिति अनुभव करते हैं। इस कारण यहाँ 'नमः' पद को ही उन कणों के लिए शङ्कर और मयस्कर कहा है।

(**नमः, शिवाय, च, शिवतराय, च**) 'शिवः शिव इति शमयत्येवैनम् (अग्निम्) एतद् हिंसायै तथो हैष (अग्निः) इमांल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति।' (श.6.7.3.15)] वे वज्र रश्मियाँ और उनके द्वारा सम्पन्न होने वाली यजन क्रियाएँ तारों के अन्दर एवं ब्रह्माण्ड के अन्य अनेक क्षेत्रों में अग्नि को विक्षुब्ध होने से रोकती हैं और उसकी प्रबलता को इतना नहीं बढ़ने देती कि उस लोक के अस्तित्व पर ही संकट आ जाए। यहाँ 'शिवतर' पद इसी गुण की उत्कृष्टता को अधिकता से दर्शा रहा है। इस प्रकार वज्र रश्मियाँ न केवल बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं, अपितु देव पदार्थों को भी अति उत्तेजित वा विक्षुब्ध नहीं होने देती।

आध्यात्मिक भाष्य

परमपिता परमात्मा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करने के पश्चात् अन्त में साधक ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों का स्मरण करते हुए नम्रीभूत होकर कहता है-

(**नमः, शम्भवाय, च, मयोभवाय, च**) [**शम्** = ऐश्वर्यसौख्यप्रदः, शान्तिप्रदः, आरोग्यसुखदः, विद्याव्याप्तिप्रदः (म.द.ऋ.भा.1.90.9); **मयोभवाय** = सर्वोत्तमसौख्य-प्रदाय (म.द.य.भा.16.41)] आरोग्य, शान्ति, ऐश्वर्य, विद्या देनेहारे एवं सर्वोत्तम सुख प्रदान करने वाले ईश्वर को हम नमन करते हैं।

(**नमः, शङ्कराय, च, मयस्कराय, च**) [**शङ्कराय** = यः सर्वेषां सुखं करोति तस्मै (परमेश्वराय) (म.द.य.भा.16.41)] जो सबके लिए सुखों की वृष्टि करने वाला एवं मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख प्रदान करने वाला है, उस परमपिता को हम नमस्कार करते हैं।

(**नमः, शिवाय, च, शिवतराय, च**) [**शिवः** = कल्याणकारी (25.47), मङ्गलमयोरूपो ज्ञानमयो विज्ञानप्रदः (म.द.य.भा.3.63); शिवम् सुखनाम (नि.3.6)] वह मङ्गलमय एवं कल्याणकारी परमात्मा ज्ञान-विज्ञान प्रदान करने वाला एवं मुमुक्षुओं को अत्यन्त सुख अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाला है, उसको हम बारम्बार नमन करते हैं।

ऐसे स्मरण करते हुए साधक परमात्मा के प्रति नतमस्तक होकर श्रद्धा से भावविभोर हो उठता है और स्वयं को पूर्णरूप से परमात्मा को समर्पित कर देता है। उस समय अति आनन्द का अनुभव करते हुए वह साधक स्वयं परमात्मा की आनन्दमयी गोद में बैठा हुआ अव्यक्त सुख की अनुभूति में निमग्न हो उठता है।

आधिभौतिक भाष्य

(**नमः, शम्भवाय, च, मयोभवाय, च**) [**नमः** = ज्ञानग्रहणार्थे, नम्रत्वधारणे (म.द.य.भा.2.32), सत्करणम् (म.द.य.भा.16.29), अन्ननाम (नि.2.7), यज्ञो वै नमः (श.2.4.2.24); **शम्** = विद्याव्याप्तिप्रदः

(म.द.ऋ.भा.1.90.9); **मयोभवाय** = सर्वोत्तमसौख्यप्रदाय (पं.वि.)] विविध विद्या प्रदान करने वाले एवं विद्या-दान आदि के द्वारा सर्वोत्तम सुख प्रदान करने वाले विद्वज्जनों से हम ज्ञान ग्रहण करें।

(**नमः, शङ्कराय, च, मयस्कराय, च**) [**शङ्कराय** = कल्याण-कारकाय (पं.वि.)] अर्थात् जो अपनी विद्या से सबका (मन, वचन व कर्म से प्राणिमात्र का) कल्याण करने वाले एवं सदैव सब प्राणियों का सुख चाहने वाले हैं, ऐसे विद्वानों के सानिध्य से हम नम्रता धारण करें।

(**नमः, शिवाय, च, शिवतराय, च**) [**शिवः** = मङ्गलमयोरूपो ज्ञानमयो विज्ञानप्रदः (म.द.य.भा.3.63), कल्याणकारी (म.द.य.भा.25.47), शिवम् सुखनाम (नि.3.6)] वे सबको मङ्गलमय एवं कल्याणकारी ज्ञान-विज्ञान प्रदान करने वाले, पाप कर्मों से हटाकर शुभाचरण सिखाने वाले हैं एवं जो अत्यन्त कल्याणकारिणी विद्या द्वारा पारमार्थिक सुख प्राप्त कराने वाले हैं, ऐसे विद्वज्जनों का हम सदैव सत्कार करें। हमें चाहिए कि ऐसे विद्वज्जनों का वस्त्र, धन, अन्नादि से सत्कार करें एवं उनकी संगति करें।

संध्योपासना करने वाला कभी भी अहंकार, क्रोध व ईर्ष्यादि दुरितों को अपने निकट नहीं आने देता। जब तक ये दुर्गुण किसी भी साधक में विद्यमान हैं, तब तक उसे स्वयं को साधक नहीं मानना चाहिए। जो व्यक्ति अहंकार, ईर्ष्या, क्रोध, काम व लोभादि दुर्गुणों को पालते हुए दूसरों को सदैव नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और स्वयं को साधक तो क्या, ब्रह्म साक्षात्कर्त्ता योगी घोषित करते हैं, वे बड़े स्तर के पाखण्डी हैं। समाज को चाहिए कि ऐसे लोगों का बहिष्कार करे, जिससे ऐसे पाखण्ड समाज में पनपने न पावें।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अन्त में साधक तीन बार 'ओम् शान्ति' का पाठ करता हुआ

आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक दुःखों को दूर करने की प्रार्थना करे। इस प्रार्थना के साथ ही स्वयं भी पूर्ण शान्ति व आनन्द का अनुभव करता हुआ कुछ समय शान्त रहे। इसके पश्चात् धीरे–धीरे नेत्र खोलकर उठ जाये।

* * * * *

मैं वैदिक भौतिकी के पुनरुत्थान जैसे इस महान् कार्य में किस प्रकार सहयोग कर सकता हूँ?
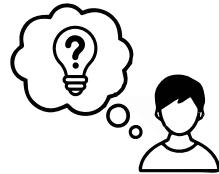
1. **सोशल मीडिया पर प्रचार करके** - हमारी पोस्ट, वीडियोज् वा लेख आदि को विभिन्न सोशल मीडिया पर अधिक से अधिक प्रचारित कर सकते हैं।

2. **स्वयं आर्थिक सहयोग करके एवं दूसरों से करा कर** - आप अपने सामर्थ्य के अनुसार एवं न्यास की 'अनैतिक व्यवसाय से अर्जित धन न लेने की शर्त' को ध्यान में रखते हुए दान दे सकते हैं और अपने सगे-सम्बन्धियों को भी इस राष्ट्रीय एवं वैदिक यज्ञ में आहुति देने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

3. **हमारे साहित्य का प्रचार करके** - आप पूज्य आचार्यश्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचा सकते हैं।

4. **वैदिक भौतिकी पर कार्यक्रम आयोजित करा कर** - हमसे सम्पर्क करके अपने आसपास अति प्रबुद्ध, विशेषकर विज्ञान के उच्च स्तरीय छात्रों के मध्य कार्यक्रम करा सकते हैं।

5. **सोशल मीडिया, पत्रिका आदि में हमारे कार्य पर लेख लिखकर अथवा वीडियो बनाकर** - हमारे कार्य को अच्छी तरह से समझकर विभिन्न विषयों पर सरल भाषा में जनसाधारण के लिए सोशल मीडिया एवं पत्रिका आदि में लेख लिख सकते हैं अथवा वीडियो बना सकते हैं।

6. **बौद्धिक सहयोग देकर** - नए मौलिक अनुसंधानों की जानकारी अथवा हमारे अनुसंधान कार्य को आगे बढ़ाने हेतु सुझाव हमें मेल द्वारा दे सकते हैं।

7. **सरकारी सहायता के लिए प्रयास करके** – हमारे कार्य की जानकारी भारत सरकार तक पहुँचाकर उनसे इस कार्य के लिए सहयोग और संरक्षण का निवेदन कर सकते हैं।

8. **हमारे वेदविज्ञान के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचकर** – भारत और विश्व को वेदोक्त आदर्शों पर चलाकर सम्पूर्ण मानवजाति के साथ–साथ प्राणिमात्र के कल्याण के लिए अपने जीवन के दोषों को त्यागकर और किसी अच्छाई को अपनाकर।

9. **वैदिक भौतिकी पर तकनीक एवं गणित का विकास करके** – हमारे वैदिक सैद्धान्तिक भौतिकी को जनोपयोगी बनाने के लिए इसके आधार पर तकनीक एवं गणित का विकास करने का प्रयास करके।

10. **वेद विरोधियों अथवा जिज्ञासुओं को उत्तर देकर** – वेदादि शास्त्रों पर हो रहे मिथ्या आक्षेपों अथवा वास्तविक जिज्ञासुओं को, जो भी आपने अब तक समझा है, के आधार पर उत्तर देकर आचार्य श्री का बहुमूल्य समय बचा सकते हैं।

* * * * *

विनम्र निवेदन

मान्यवर! आपने आचार्य जी के कार्य और महत्ता को भली प्रकार समझ लिया होगा, ऐसी आशा करते हैं। यदि आपके हृदय और मस्तिष्क वेद के इस अपूर्व कार्य के लिए उत्सुक हुए हों और हमें अपना सहयोग करना चाहें, तो आप हमारे यज्ञ में निम्न प्रकार से सहयोगी बन सकते हैं–

1. प्रतिवर्ष न्यूनतम 12,000/– रुपये दान करके ट्रस्ट के **सहयोगी संरक्षक** बन सकते हैं अथवा एक बार न्यूनतम एक लाख रुपये का दान करके आजीवन **सहयोगी संरक्षक** बन सकते हैं।
2. प्रतिवर्ष न्यूनतम 6,000/– रुपये देकर **विशेष आमन्त्रित सदस्य** बन सकते हैं अथवा एक साथ न्यूनतम 50,000/– रूपये देकर **विशेष आमन्त्रित सदस्य** बन सकते हैं।
3. वार्षिक न्यूनतम 1,000/– रुपये देते रहकर **सहयोगी सदस्य** बन सकते हैं।

नोट– उपर्युक्त सभी सहयोगी महानुभावों को न्यास की सी.ए. द्वारा की हुई वार्षिक ऑडिट रिपोर्ट भेजी जाया करेगी। जो महानुभाव स्वयं दान नहीं कर सकें, वे दूसरों को प्रेरित करके कम से कम 8 सदस्य आदि बनाकर स्वयं नि:शुल्क उसी श्रेणी के सदस्य वा सहयोगी संरक्षक आदि बन सकते हैं।

4. वयोवृद्ध विद्वान्, संन्यासी, साधु, महान् वैज्ञानिक महानुभाव अपना आशीर्वाद तथा बौद्धिक सहयोग दे सकते हैं।
5. विद्यार्थी, किसान, श्रमिक, व्यापारी आदि अपनी पवित्र आहुति श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार प्रदान कर सकते हैं।

* * * * *

विशेष निवेदन

यह कार्य अत्यन्त पवित्र है, इस कारण आचार्य श्री की भावनानुसार विनम्र निवेदन है कि जिनकी आजीविका किसी भी प्रकार की हिंसा, चोरी, तस्करी, अश्लीलतावर्धक साधनों, नशीली वस्तुओं की बिक्री, धोखाधड़ी, शोषण आदि पर निर्भर हो तथा जो निर्धन भाई अपने सामर्थ्य से अधिक (अथवा अपने परिवार में क्लेश करके) दान देना चाहते हों, ऐसे महानुभावों की सद्भावना का धन्यवाद करते हुए भी हम उनका दान लेने में असमर्थ हैं। कृपया ऐसा करने का प्रस्ताव करके हमें लज्जित न करें। हाँ, जो बन्धु ऐसे कर्मों को त्यागकर हमसे जुड़ना चाहें, तो उनका हार्दिक स्वागत है। संस्थान के संचालन हेतु कृपया इन दो खातों मे दान कर सकते हैं-

Bank Name	**Punjab National Bank**
A/c Holder	Shri Vaidic Swasti Pantha Nyas
A/c Number	4474000100005849
Branch	Bhinmal
IFS Code	PUNB0447400

या

Bank Name	**State Bank of India**
A/c Holder	Shri Vaidic Swasti Pantha Nyas
A/c Number	61001839825
Branch	Khari Road, Bhinmal
IFS Code	SBIN0031180

ज्ञातव्य है कि वैदिक विज्ञान के अग्रिम एवं उच्च स्तरीय विशाल शोध संस्थान हेतु 30 बीघा भूमि सिरोही (राजस्थान) नगर से राष्ट्रीय राजमार्ग- 62 से लगभग सवा कि.मी. दूर पालड़ी (एम) राजस्व ग्राम में क्रय कर ली गई है। इस संस्थान के निर्माण का अनुमानित बजट 10 करोड़ रुपये है। जो महानुभाव इस

महान् यज्ञ में अपनी पवित्र आहुति (बड़ी राशि) देना चाहते हैं, वे निम्नलिखित खाते में धन भेज सकते हैं-

Bank Name	**Axis Bank**
A/c Holder	Shri Vaidic Swasti Pantha Nyas
A/c Number	921010017739651
Branch	Bhinmal
IFS Code	UTIB0003757

आप अपना चैक/ड्राफ्ट/धनादेश, **'श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास'** PAN No. AAATV7229A के नाम (केवल खाते में देय) भेजने का कष्ट करें, साथ ही अपना नाम व पता साफ अक्षरों में लिखकर अवश्य भेजने की कृपा करें। आप ऑनलाइन भी धन जमा करवा सकते हैं, परन्तु ऐसा करने वाले महानुभाव अपना नाम व पता दूरभाष द्वारा तत्काल सूचित करने का कष्ट करें, जिससे समय पर रसीद भेजी जा सके, अन्यथा हमें बहुत कठिनाई होती है।

नोट- न्यास को दिया हुआ दान आयकर अधिनियम 1961 की धारा 80-जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

* * * * *

“ वास्तव में ईश्वर की पूजा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिससे उन्हें ईश्वर के स्वरूप और गुण, कर्म व स्वभाव का विधिवत् ज्ञान हो सके। ऐसा होने से उन्हें सृष्टि का भी बोध होकर सृष्टि में रहने वाले अन्य प्राणियों के साथ अपना क्या सम्बन्ध है, यह भी बोध हो सकेगा और तदनुकूल ही उनका सबसे प्रीति और न्यायपूर्वक व्यवहार भी हो सकेगा।

आचार्य अग्निव्रत

/vaidicphysics